मध्यकालीन हिंदी काव्यभाषा

रामस्वरूप चतुर्वेदी

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद १

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए महात्मा गाधी माग
इलाहाबाद १ द्वारा प्रकाशित

●

कापीराइट
श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी

●

प्रथम सस्करण
माच १९७४

●

सम्मेलन मुद्रणालय
इलाहाबाद द्वारा मुद्रित

मूल्य : १६.००

विनीत, विनय, विवेक

तथा

रेखा के लिए

●

विषय-सूची

०

आमुख

नयी कविता व इस युग म जब कविता के सभी परपरागत भेदक लक्षण—तुक छद, अलकरण यहाँ तक कि एक सीमा तक लय भी धीरे धीरे विलुप्त हो चले हैं ता काव्यभाषा ही वह अतिम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार शेष रह जाता है जिसके सहारे कविता व आतरिक सघटन को समझन की चेष्टा हो सकती है। हिन्दी समीक्षा मे रचनात्मक स्तर पर काव्यभाषा के विश्लेषण के लिए बहुत उल्लेख-योग्य प्रयत्न अभी तक नही हुए हैं। कुछ मध्यकालीन कवियो की काव्यभाषा का विवेचन करत हुए शोध ग्रथ प्रस्तुत किए गए हैं पर इनकी प्रवृत्ति व्याकरणिक अधिक है। ऐस ग्रथो की दृष्टि काव्यभाषा के सजनात्मक विधान पर नही ह। काव्यभाषा की सावयविक समझ के लिए अकेला व्याकरण पक्ष अपर्याप्त ह क्योंकि कविता की रचना प्रक्रिया उसक माध्यम से नही समझी जा सकती। आवश्यकता इस बात की है कि व्याकरण-व्यवस्था और सजन प्रक्रिया दोनो ही दृष्टि बिंदुओ से काव्यभाषा म अथ के अपन सचरण की अपक्षया सश्लिष्ट रूप म समझन का प्रयत्न किया जाए। यही वस्तुत कविता का अध्ययन सबसे अधिक सार्थक है। फिर यह भी अपक्षित है कि मध्यकाल के कवियो के अलग-अलग भाषिक अध्ययन हो चुकने क उपरात—उनकी अपनी सीमाओ और विशेषताओ का उल्लेख यहा बहुत प्रासगिक नहा है—हिन्दी की सपूर्ण मध्यकालीन काव्यभाषा का परीक्षण एक साथ किया जाए जो हिंदी क्षत्र के जातीय मानस और साहित्य की आधारशिला है। कुछ ऐसी ही बौद्धिक प्रेरणाओ का फल प्रस्तुत ग्रथ का महत्त्वाकाक्षी पर निश्चय ही अपूर्ण रूप है। पिछले एक दशक म काव्यभाषा की विविध समस्याओ स टकरात रहन क उपरान्त अब कुछ साहस बटोर पाया हूँ अध्ययन की इस उच्च और महिमाशाली भावभूमि म प्रवेश करन का। इस यात्रा, अथवा मन्थन, क परिणाम यहाँ वदुषिक जगत के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ इस आशा के साथ कि इस आरभिक और अपक्षया अव्यवस्थित अध्ययन को पूर्ण रूप दने का प्रयत्न भविष्य म सभव होगा।

प्रस्तुत अध्ययन म व्याकरण और भाषिक सजन प्रक्रिया दोनो ही पक्षो पर विचार करन का यत्न होगा। केन्द्र म दूसरा पक्ष होगा इसलिए भी कि व्याकरणिक

साथ नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता स मँगवाने की व्यवस्था की यह उनकी साहित्यिक अभिरुचि तथा सहज स्नेह का मूल्यवान प्रमाण है। (स्व०) प्रो० एहतिशाम हुसन द्वारा सुझाई गई कुछ पाठ्य सामग्री बघुवर डा० विद्यानिवास मिश्र न कलिफोर्निया, बर्कले से मँगवा कर सुलभ की। आदरणीय प० उमाशंकर शुक्ल डा० व्रजेश्वर वर्मा, डा० हरदेव बाहरी तथा डॉ० रघुवंश से विवेच्य विषय की चर्चा बराबर होती रही है। श्री बालकृष्ण राव डा० देवराज तथा डॉ० नामवर सिंह ने काव्यभाषा सबधी मेरे आरम्भिक लेखन पर लिखित तथा मौखिक रूप म विचार विमर्श कर के विषय के स्पष्टीकरण म सहयोग दिया है। लेखक अपने इन सभी सम्मान्य बघुओं के प्रति आभारी है।

शोध और आलोचना की भाषा म काव्यभाषा की व्याख्या की स्पष्ट ही अपनी सीमा है। फिर तथ्यपरक शोध और व्याख्यात्मक आलोचना की पद्धतियो का अपना तनाव है। इस सब के बीच स गुजरने म जितना जोखिम है अपने को बनाए रखने के प्रयत्न म उतना ही सताप भी है। पर कृतकृत्यता तभी है यदि और जब लेखक का सतोष आग के रचनात्मक असतोष का कारण बन सके।

५ २ १९७४

—रामस्वरूप चतुर्वेदी

काव्यभाषा और बिंब-प्रक्रिया

काव्यभाषा का स्वरूप

कई अन्य महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों की तरह ही हिंदी में काव्यभाषा संबंधी सैद्धांतिक चिंतन और व्यावहारिक आलोचना में पहल आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने की। 'बुद्धचरित' के ब्रजभाषा अनुवाद (१९३८) की भूमिका के रूप में शुक्ल जी ने 'काव्यभाषा' शीर्षक से एक लंबा निबंध प्रस्तुत किया है। जायसी ग्रंथावली' की भूमिका में भी संपादक ने कवि की भाषा को लेकर अच्छी टिप्पणियां की हैं। इन तथा अन्य समीक्षाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि शुक्ल जी ने काव्यभाषा की सर्जन प्रक्रिया और व्याकरणिक पक्ष दोनों को ही सतुलित ढंग से महत्त्व दिया है। काव्यभाषा के संबंध में चिंतन का यह पक्ष साहित्य समीक्षक का है। व्याकरण का पक्ष—भले ही संक्षिप्त रूप में—प्रस्तुत किया कामताप्रसाद गुरु ने। अपने वृहदाकार और प्रख्यात हिंदी व्याकरण (१९२०) के परिशिष्ट में गुरु ने 'कविता की भाषा' शीर्षक के अंतर्गत व्याकरणिक दृष्टि से कुछ आधारभूत सामग्री प्रस्तुत की है। और अपने इस विवेचन की संक्षिप्तता का कारण बताते हुए लिखा है 'हिंदी कविता की भाषाओं का पूर्ण विवेचन करने के लिए एक स्वतंत्र पुस्तक की आवश्यकता है। (पृ० ६९८) पर व्याकरणकार गुरु और आचार्य शुक्ल के बाद अपेक्षया कम विद्वानों का ध्यान काव्य सरचना के इस आधारभूत पक्ष की ओर गया। गुरु ने जिस स्वतंत्र पुस्तक की आवश्यकता महसूस की वह इस रूप में अलिखित ही रही।

प्रस्तुत अध्ययन में व्याकरण और भाषिक सर्जन प्रक्रिया दोनों ही पक्षों पर विचार करने का यत्न होगा। केंद्र में दूसरा पक्ष होगा, इसलिए भी कि व्याकरणिक दृष्टि से हिंदी के प्रमुख मध्यकालीन और भक्त कवियों के अध्ययन सम्पन्न हो चुके हैं और इसलिए भी कि यह दूसरा पक्ष ही काव्यभाषा का 'साधनात्मक' पक्ष है व्याकरण की दृष्टि तो 'सिद्धावस्था' पक्ष पर रहती है। और आचार्य शुक्ल ने ठीक ही, यद्यपि एक भिन्न स्तर पर, साधनात्मक पक्ष को महत्व दिया है।[1]

---

१ द्र० काव्य में लोक मगल की साधनावस्था, चिंतामणि (भाग १)

काव्यभाषा के संबंध में अंग्रेजी और अमरिकी समीक्षकों ने निम्न अध्ययन प्रस्तुत किए हैं। आवेन बारफील्ड ने अपनी पुस्तक पोएटिक डिक्शन का आरंभ करते हुए काव्यभाषा की जो परिभाषा देनी चाही है वह अपूर्ण तो है ही, कुछ सतही-सी भी लगती है। इसका कारण संभवतः यह है कि एक गंभीर विधायन को परिभाषित करना स्वयं अपनी दृष्टि को सीमित कर लेना है। बारफील्ड महोदय से शिक्षा ग्रहण करके काव्यभाषा की परिभाषा देने की चेष्टा के बजाय उसके स्वरूप विश्लेषण का ही यत्न अधिक उचित और सार्थक होगा। श्री बारफील्ड की परिभाषा इस प्रकार है—'जब शब्दों का चयन और नियोजन इस प्रकार से किया जाए कि वह सौंदर्यतत्त्वात्मक कल्पना को जाग्रत करे या जाग्रत करने की चेष्टा करे तो इस चयन के परिणाम को काव्यात्मक शब्द-समूह (पोएटिक डिक्शन) कहा जाएगा।'[२] स्पष्ट ही मूल भाव की ओर संकेत करते रहने पर भी इस परिभाषा में संपूर्ण स्थिति को अतिसरली-कृत रूप में प्रस्तुत करने की मनोवृत्ति परिलक्षित होती है। शब्दों का यह चयन किस प्रकार होता है यही तो मुख्य विचारणीय समस्या है।

सामान्य मानव जीवन में भाषा प्रयोग के कई स्तर दिखाई देते हैं। बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा के अंतर को बराबर समझा गया है। इस संबंध में माना जा सकता है कि भाषा के इन दोनों स्तरों में सदैव अंतर बना रहता है, और भाषा के जिस रूप में साहित्य-सृजन होता रहता है कुछ समय के उपरांत उसमें शब्दों के अर्थ बँध जाते हैं, और वह भाषा रूप जड़ हो जाता है। पर बोलचाल की भाषा निरंतर के उन्मुक्त और जीवंत उपयोग से विकसित होती है। इस प्रसंग में यह भी समझा जाना चाहिए कि भाषा के इन दोनों स्तरों का पारस्परिक संपर्क एक द्वंद्वात्मक प्रक्रिया को परिचालित करता है। बोलचाल की भाषा में लाक्षणिक क्षिप्रता काव्यभाषा के संपर्क से विकसित है और स्वयं रूढ़ होने पर यह काव्यभाषा बोलचाल के मुहावरे से अपने में नयी रचना शक्ति उत्पन्न करती है। इस प्रकार पारस्परिक संपर्क से भाषा के ये दोनों स्तर अपने को पुनर्नवीकृत करते चलते हैं।

इसी दृष्टि से भाषावैज्ञानिकों ने माना है कि किसी भी देश की साहित्यिक भाषाएँ वहाँ के जन समुदाय की भाषा के विकास की विभिन्न मंजिलों को सूचित करती हैं। संस्कृत पालि प्राकृत अपभ्रंश की जो सरणि भारतीय आर्य भाषाओं के विकसनशील रूप को प्रकट करती है अनिवार्यतः साहित्यिक

२ पोएटिक डिक्शन, पृ० ४१

भाषाओं का ही एक भ्रम है। सच तो यह है कि वर्तमान काल से पूर्व की बोलचाल की भाषाएँ क्या थी यह जानने के लिए हमारे पास कोई उपयुक्त साधन नहीं है। तुलसी की अवधी अपने समय की बोलचाल की अवधी से काफी भिन्न थी यह एक सर्वस्वीकृत तथ्य है, पर उस बोलचाल की अवधी का क्या स्वरूप था, इस संबंध में हमारी कोई जानकारी नहीं है। हम केवल इतना कह सकते हैं कि परस्पर मिलती जुलती बोलियों के समूह में से कोई बोली किन्हीं विशिष्ट कारणों से—सांस्कृतिक, सामाजिक राजनैतिक अथवा अन्य—साहित्यिक सर्जनशीलता की अभिव्यक्ति बन जाती है। फिर कई शताब्दियों के प्रयोग के उपरांत जब उसकी प्राण-शक्ति घटने लगती है, और बदलते हुए नये युग के यथार्थ में जब वह अपने आपको सशक्त करने में असमर्थ पाती है तो उसके विकास की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। प्रायः चार सौ वर्षों तक काव्य भाषा बने रहने के बाद व्रजभाषा भारतेंदु काल में इस स्थिति में आ जाती है कि पुनर्जागरण के इस युग में सारे परिवेश से उसकी कोई संपृक्ति नहीं रह जाती। यही कारण है जिससे भाषा जो हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण दाय है, परवर्ती युग में कभी वैसा ही कठिन अवरोध बन जाती है।

साहित्यिक भाषा मूलतः बोलचाल की ही वह भाषा है जो विभिन्न रचनाकारों की सृजन प्रक्रिया में समाहित होकर अपने स्वरूप को परिवर्तित कर लेती है। कवि विशेष के अनुभव वैशिष्ट्य से संपृक्त होने पर उसकी अर्थ-क्षमता में कई प्रकार के अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं। स्वयं बोलचाल की भाषा के अपने कई रूप और स्तर रहते हैं पर यहाँ उनकी चर्चा अभिप्रेत नहीं। साहित्यिक भाषा के विशेषतः पिछले कई सौ वर्षों में दो रूप हो गए हैं— कविता की भाषा और सर्जनात्मक गद्य की भाषा। सामान्यतः काव्यभाषा कहने पर हम दोनों को ही उसके अन्तर्गत समाहित कर लेते हैं। इस प्रसंग में अखबारी या सूचनात्मक गद्य और उपन्यास-कहानी-नाटक के सृजनात्मक गद्य के अंतर को भी हम स्मरण रखना है। इस प्रकार भाषा के कई प्रयोग-स्तर हैं—बोलचाल की भाषा, सामान्य गद्य की भाषा सर्जनात्मक गद्य की भाषा और कविता की भाषा।

कविता की भाषा का एक मुख्य तत्व भावचित्रों अथवा बिंबों का विधान है। कवि परंपरा में स्वीकृत भावचित्रों का प्रयोग अधिक नहीं करता, आवश्यकता पड़ने पर सामान्य से सामान्य शब्द के आधार पर अपना इच्छित भावचित्र स्वयं निर्मित करता है। काव्य में सामान्य अर्थबोध से ऊपर उठकर वह अपने अनुभव से संपृक्त करके किसी भी शब्द को एक विशिष्ट अर्थ देता है।

सम्प्रेषण की इस प्रक्रिया में क्रमशः पाठक सामाजिक का दायित्व बढ़ता गया है। सहृदयता की माँग हमारे लक्षण ग्रंथकारों ने भी की थी पर अब इस सहृदयता की नियामकता वर्द्धनशील है उसी अनुपात में जिस अनुपात में कविता या अनुभूति को सुनिश्चित माध्यम बनाने की वृत्ति ह्रासशील। काव्य और कलाओं का यह विकास स्थूल से सूक्ष्म की ओर हो रहा है—हेगेल के विभाजन का ध्यान में रखते हुए स्थापत्य से संगीत की ओर। उत्तर मध्यकालीन युग की कलाओं में माध्यम—चाहे रंग का हो अथवा शब्द का (वर्णों का वहन कर दोनों का ही समाहार हो सकता है)—अपने स्वरूप में एकदम चौकस रखा जाता था या रखने का यत्न किया जाता था। इस 'चौकसी' की चरम सीमा हिन्दी के रीतिकालीन काव्य और मुगलकालीन दस्त-कलाओं में मिलती है। इस युग की आलोचना-पद्धति को नलिनविलोचन शर्मा के शब्दों में भारतीय मनीषा का ह्रासकालीन वर्गीकरण भ्रम[3] कहा जा सकता है।

पर गत युग के अनुभवों ने सिद्ध किया कि कला की भाषा चाहे जितनी सावधानी बरती जाने पर भी गणित या विज्ञान की भाषा जैसी सही और एकार्थक नहीं हो सकती। शायद उस चौकसी की प्रतिक्रिया में और कुछ मानवीय अनुभूतियों की बढ़ती हुई जटिलता, सजगता और वैशिष्ट्य के कारण आज का कलाकार अपने सम्प्रेषण को निर्दिष्ट और निश्चित बनाने से बचता है। वह अनुभूति विशेष की एक पूरी श्रेणी सम्प्रेषित करता है, गणित के फारमूले की तरह एक विशिष्ट और केवल उसी विशिष्ट स्थिति को द्योतित नहीं करता। प्रख्यात आधुनिक उपन्यासकार लारेंस डरेल ने रचना की इस समस्या से जूझते हुए कहा है 'बताने की प्रक्रिया में सत्य विलुप्त हो जाता है उसे सम्प्रेषित ही किया जा सकता है कहा नहीं जा सकता।' सत्य की इस सूक्ष्म प्रकृति को अधिकाधिक समझते हुए आज सभी कलाओं—स्थापत्य मूर्ति चित्र संगीत और कविता में अमूर्तन की वृत्ति बढ़ती दिखाई देती है।

आज का रचनाकार किसी अनुभूति के सुनिश्चित रूप के स्थान पर उस अनुभूति की जो एक व्यापक श्रेणी सम्प्रेषित करना चाहता है उसका मुख्य कारण यह है कि भाषा विज्ञान के विकास और पिछली कई शताब्दियों के अनुभव के आधार पर वह ध्वनियों और शब्दों की प्रकृति तथा सीमा को कुछ और स्पष्टता से समझने लगा है। वास्तविकता यह है कि शब्द अपने आप में

---

३ साहित्य का इतिहास-दर्शन, पृ ११६

एक निश्चित अर्थ को व्यक्त न करके उस अर्थ की व्यापकता के अंतर्गत आने वाले अनेक भिन्न जुड़े भावों को व्यक्त करते हैं। एक 'विश्वास' शब्द से पारस्परिक मानवीय संबंध की एक दिशा विशेष में बड़े स्थितियों का बोध हो सकता है—इन अर्थों की दिशा एक रहेगी, पर अनुभूतिगत सघनता की दृष्टि से उनमें अंतर होगा। इस स्थिति की तुलना नये भाषाविज्ञान के बहुचर्चित विभावन 'ध्वनिग्राम' (फोनीम) से की जा सकती है। ध्वनिग्राम उन बहुत-सी मिलती जुलती ध्वनियों के समूह को कहते हैं, जिनका उच्चारण भेद यंत्रों की सहायता से पकड़ा जा सकता है पर वास्तविक प्रयोग के समय उनके स्वरूप में हम विवेक नहीं करते। 'क' हिंदी भाषा में एक ध्वनिग्राम है जिसके अंतर्गत क क्षेत्र की मिलती-जुलती अनेक ध्वनियाँ आ जाती हैं। इसीलिए 'क' ध्वनिग्राम उन सभी ध्वनियों का प्रतीक होते हुए हमारी वर्णमाला में केवल एक ही वर्ण के रूप में स्थान पाता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि ध्वनियाँ अगणित होती हैं और उन सब के सुनिश्चित स्वरूप को हम नहीं जानते। हम ध्वनिग्रामों का व्यवहार में लाते हैं। इसी प्रकार शब्दों का एक बहुत सुनिश्चित अर्थ नहीं होता। हम कह सकते हैं कि शब्द भी वस्तुतः शब्दग्राम होते हैं जो मिलते-जुलते अर्थों का बोध कराने वाले अर्थों की एक श्रेणी व्यक्त करते हैं। ऐसे सीमित और अपूर्ण उपकरणों से हम काव्यभाषा के शब्दों में एक और एक ही, निश्चित भाव को व्यक्त करने का दावा कैसे कर सकते हैं? हम वस्तुतः एक अनुभूति को नहीं वरन् उसके व्यापक स्वरूप को ही सम्प्रेषित करते हैं। भाषा की इस सीमित शक्ति के कारण स्वयं रचनाकार के लिए भी अनेक अनुभूतियाँ कई बार अपने में बहुत निर्दिष्ट नहीं हो पातीं। डरेल के उपन्यास 'क्लिया' की एक पात्र कहती है 'शायद एकदम अप्राप्य होने के कारण ही वह इतना अधिक प्रेमास्पद था। इन बातों को ठीक-ठीक कहना मुश्किल है। एक ही शब्द 'प्रेम' या 'प्रेमास्पद' का प्रयोग प्राणियों की अनेक किस्मों के लिए करना पड़ता है।" इसी रचना के एक दूसरे पात्र का कहना है "भाषा! लेखक का संघर्ष इसके अतिरिक्त क्या है कि वह एक ऐसे माध्यम का ठीक-ठीक उपयोग करे जिसकी मौलिक अपूर्णता से वह परिचित है।

भाषा की प्रकृति अपने-आप में अमूर्तन की है। शब्द अंततः किसी मूर्त वस्तु अथवा स्थिति के अमूर्त संकेत भर होते हैं। इस प्रकार सारी भाषा अमूर्तन और प्रतीकन की क्रिया है। यह प्रक्रिया जीवंत और गतिशील रहे इसके लिए भाषा का साधारण प्रयोगकर्त्ता चिंतित नहीं रहता जब कि कवि का संपूर्ण

रूपक म समग्र स्थिति के बारे म आरोपण की चेप्टा होती है। बिंब साग रू
की भाँति किसी पूरी की पूरी स्थिति को अंकित करना चाहता है। पर ए
के विधान म एक मौलिक अंतर है। साग रूपक म प्रस्तुत-अप्रस्तुत का क्र
साथ-साथ चलता है जबकि बिंब म प्रस्तुत के हल्के उल्लेख के बाद अप्रस्
म से ही सारी व्यंजना देने का प्रयत्न होता है। इसीलिए सागरूपक सा
अलंकार लगता है जबकि बिंब क्रमश रचना की अपनी भाषिक प्रक्रिया
पर्यवसित हो जाता है।

इस प्रसग म यह जिज्ञासा सहज हो सकती है कि ऐसी स्थिति म कवि
के द्वारा भाषा क्या बराबर समृद्ध होती चलती है? बारफील्ड महोदय ने अप
पुस्तक के 'मेटाफर' शीर्षक अध्याय म इस प्रश्न को उठाया है— 'हम लो
यह निष्पत्ति निकालने के लिए उत्सुक हो सकते हैं कि जैसे जैसे भाषा पुरा
होती जाती है काव्य उपादान के रूप म अनिवार्यत वह समृद्धतर होती चल
है।'[४] पर वस्तुत ऐसा होता नहीं। शायद कभी-कभी इससे विरोधी स्थिति क
ही सभावना अधिक सामने आती है जब पुरानी भाषा नये कवियों के लि
सहायता की अपेक्षा अवरोध अधिक बन जाती है। इसका कारण क्या है
वस्तुत प्रतीक जो काव्यभाषा के सबसे तेजस्वी तत्त्व जान पडते हैं, एक सीम
के बाद भाषिक प्रक्रिया म उत्पात करने लगते हैं। प्रतीकों की बडी संख्या यदि
बिंबों के रूप म सक्रांत नही हो पाती तो उनमे से अधिकाश प्रतीक कथानक
रूढि या अभिप्राय मात्र बन कर रह जाते है जैसी इस समय हिंदी की समकालीन
कविता की स्थिति है जहा ढेर के ढेर बौने मुखौटे हिमालय खाली बोतलें आ
नारंगी के छिलके डूब-उतरा रहे है। इस प्रकार के लावारिस प्रतीक किसी भ
काव्यभाषा के लिये बडे ह्रासशील तत्त्व साबित होते हैं क्योंकि उनका रूप
वैसा ही जड और निश्चित हो जाता है जैसा कि सामान्य शब्दों का होता है जि
कवि अमूर्त करने की प्रक्रिया म सबसे पहले कच्चे माल के रूप म उठाता है।
स्पष्ट ही बहुत से प्रतीक जो भाषिक रूप म विकसित नहीं होते अभिप्रायों के
रूप म बहते रहते है और आने वाले कवियों की सहायता तो नही ही देते उनके
लिए अवरोध और समस्या के रूप म उपस्थित होते है। ऐसे रूढ अभिप्रायों
को तोडने का श्रम उनके लिए बहुत कुछ अतिरिक्त सिद्ध होता है क्योंकि बहुत
बार तो उन्हें अपने शब्दों या सदर्भों से भावचित्र विकसित करना ही इष्ट
रहता है। पर जैसा सकेत किया गया अनवरत प्रयोग और अनुपयोग के फलस्वरूप

---

४ पोएटिक डिक्शन पृ० ६६

म प्रतीक की स्थिति तक का विकास काव्यभाषा के सगठन की पहली मंजिल है। इन शब्दों का वास्तविक रचनात्मक परिणति तब होती है जब य प्रतीक भावचित्रों अथवा बिंबों क रूप म प्रचलित होते है। यह भावक्रिया की भाषा काव्यभाषा का एक महत्वपूर्ण स्तर है। 'प्रतीक' के माध्यम स सामाजिक अर्थ को एक वयक्तिक स्तर तक लाने की चेष्टा होती है, पर अनुभूति की अद्वितीयता इन प्रतीकों के सामाजिक-वयक्तिक रूप स पूरी व्यक्त नहीं हो पाती, क्योंकि प्रतीकों का रूप भी क्रमश रूढ़ होता चलता है (सूर्य=ज्ञान, अधकार=पाप या अज्ञान) सामान्य शब्दों की ही तरह। तब भावचित्र अथवा बिंब की स्थिति म कवि प्रतीक क अपेक्षया स्वीकृत परिवेश को तोड कर अपना आवश्यक और इच्छित परिवेश निर्मित करता है। ऐसी स्थिति म 'घर' शब्द कवि की किसी विशिष्ट मन स्थिति—उदाहरणार्थ अपने विरुद्ध सब की सम्मिलित दुरभिसंधि की प्रतीति का अनुभावन कराने लगता है। 'साधारणीकरण' क लिए यह विशिष्टीकरण कितना गहरा हो जाता है—सामान्य शब्द से प्रतीक और फिर प्रतीक स आग बिंब। इस विशिष्टीकरण मे ही रचनाकार की अनुभूति की अद्वितीयता गहीत और व्यक्त हो पाती है। प्रतीक का मूलतत्त्व यही है कि उसके माध्यम म किसी शब्द के सपूर्ण और चरम अर्थ क स्थान पर उसके इच्छित आंशिक तत्व को ग्रहण किया जाए। बिंब की स्थिति म इस आंशिक अर्थ को कवि एक वयक्तिक सगति प्रदान करता है।

प्रस्तुत विवेचन क लिए दूसरा उदाहरण हमने चुना था 'चक्रव्यूह', जो सामान्य शब्द न होकर एक सदर्भ है। सदर्भ की परिणति भी क्रमश प्रतीक-स्थिति क माध्यम स बिंब रूप म होती है। सदर्भ रूप म 'चक्रव्यूह' के साथ महाभारत गर्भवती सुभद्रा अभिमन्यु सात योद्धा—यह पूरा का पूरा परिवेश हमारे सामने आ जाता है। कवि इस सदर्भ को जब प्रतीक रूप म लाता है तो 'चक्रव्यूह' का अर्थ हो जाता है मानव मन की गुत्थियाँ। और फिर जब इस प्रतीक को बिंब क रूप म सजात किया जाता है तो चक्रव्यूह के साथ एक नया परिवेश जुड़ जाता है, जिसे कवि न अपनी इच्छा और रचना की आतरिक आवश्यकता के अनुसार निर्मित किया है—उदाहरणार्थ, मृत्यु के भय से युद्ध करता हुआ आधुनिक व्यक्ति-मन। इस प्रकार सदर्भ के साथ अनिवार्यत जुड़े हुए परिवेश को प्रतीक स्थिति म ध्वस्त करके बिंब या भावचित्र के रूप म कवि स्वय अपना परिवेश निर्मित कर लेता है। प्रतीक और बिंब म कुछ-कुछ वैसा ही गुणात्मक अंतर है जैसा उपमा और साग रूपक के बीच परिलक्षित किया जा सकता है। उपमा म हम किसी एक अश विशेष की तुलना देना चाहते है,

अतत भाषा का सारा स्वरूप जड हो जाता है शब्द प्रयोगा के एक विशिष्ट सदभ म सभावनाएँ चुक जाती है। कइ शताब्दिया तक काव्य भाषा बनी रहने के बाद भारतेदु के समय म व्रजभाषा की ऐसी ही स्थिति आ गई थी। नवीन सभावनाओ स युक्त खडी बोली का भारतेदु न नयी स्फूर्ति और चेतना का आधार मान कर ग्रहण किया था, जिसस हमारे साहित्य म पुनर्जागरण का युग सभव हो सका। रचना सदभ म एक चुकी और रीती हुई बोली के स्थान पर एक दूसरी बोली काव्यभाषा के रूप म प्रतिष्ठित होता है। मध्यकालीन सदभ म प्रतीक और रूढि क अतर का विश्लेषण आचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी न बडी स्पष्ट शली म किया है—'साहित्यकार जब प्रतीक और रूढि का विवक खो देता है तो वह कुठाग्रस्त हो जाता है। प्रत्येक शब्द, प्रत्येक मूर्ति, प्रत्यक रेखा और प्रत्येक चिह्न जब तक अपने पीछे के तत्वचितन क साथ आत हैं तो प्रतीक होत ह परन्तु जब उनके पीछे काम करने वाल तत्वचितन भुला दिए जात हैं तो व रूढ हो जात है। विष्णु का गगनाभ नील वण उनकी अनतता का सकेत करता ह उनके चारो हाथ और उनके शस्त्र भी अनत काल और गति क निदशक हैं विष्णु की मूर्ति को उनका फोटोग्राफ मान लना रूढ है और स्तब्ध मनावत्ति का परिचायक है। किसी भी दवता की मति फोटो नहा है। यथाथ चित्र सकेताभिधान होता है और तत्वचितन का मुखर करन वाला विग्रह प्रतीक होता है।'[५]

अमूनन का सिद्धान्त आधुनिक कलाओ और कला विवचन म काफी सीमा तक चर्चित हुआ है। यह स्थूल स सूक्ष्म की ओर जान की वत्ति है। इसीलिए आधुनिक दष्टि स कविता म शब्द का चरम अथ—जो सामान्यत उसका प्राथमिक अथ ही होता है—को न लेकर उसक उन्मुक्त, वकल्पिक अर्थ का ग्रहण किया जाता है। काव्यभाषा का यह रूप अपन सप्रेषण स पाठक को बाधता नहीं वरन् उसे अनुभूतियो की एक श्रेणी एक दिशा देना अपना इष्ट समझता है। काव्यभाषा का यह द्रव रूप जिसम अथ की निश्चितता पर बल न दकर उसकी उन्मुक्तता पर अधिक बल दिया जा रहा है समकालीन साहित्य चितन की केन्द्रीय स्थिति है।

पिछले वर्षो म पश्चिम क कुछ दाशनिको और साहित्यचितको के एक वग ने अथ के विलोप की बात उठाई है। सगीत क सादृश्य पर एसे विचारक यह नहीं मानते कि काव्यभाषा किसी अभीष्ट अथ की प्रतीति कराती है। उनकी दष्टि म जिस प्रकार सगीत, विशेषत वाद्ययत्रो का सगीत किसी प्रकार क सुनिश्चित अथ का बोध नहा कराता उसी प्रकार कविता क शब्द किसी निश्चित

---

५ मध्यकालीन बोध का स्वरूप, प० १९

जाती है वह 'नकली' सीता है। पर यह जानते हुए भी कि जो सीता हरी गई है वह असली [illegible] है पाठक की करुणा उसी प्रकार उमड़ती है जैसी कि वास्तविक सीता के दुःख में उमड़ती। यहाँ तुलसी अपना अभीष्ट भावबोध काव्यभाषा के सामर्थ्य से ही संप्रेषित करते हैं और यह संप्रेषण यथावस्तु की बाधा को पार करके अक्षुण्ण बना रहता है। यदि यह सारा आख्यान काव्यभाषा से विहीन करके साधारण रूप में कहा जाए तो पाठक या श्रोता सीता हरण के अवसर पर दुखी होने के बजाय प्रसन्न होगा कि देखो रावण कितना मूर्ख बन रहा है। पर तुलसी की समर्थ काव्यभाषा यथावस्तु के इतने महत्वपूर्ण अवबोध के ऊपर उठ कर अभीष्ट भावबोध को संप्रेषित कर देती है।

काव्यभाषा के स्वरूप को समझने में लोकसाहित्य की प्रकृति के विश्लेषण से भी सहायता मिल सकती है। यदि हम यह विचार करें कि लोकसाहित्य और शिष्ट साहित्य का विभाजक आधार क्या है तो पता चलेगा कि अभिव्यक्ति के इन दोनों प्रकारों का प्रमुख अंतर भाषा प्रयोग की विभिन्नता है। लोकसाहित्य में सामान्यतः भाषा का सर्जनात्मक प्रयोग नहीं होता। लोककवि (या गायक) भावचित्रों का संघटन नहीं कर पाता। लोकगीत में तो अधिकतर संगीत के सक्रिय सहयोग में दैनिक बोलचाल की भाषा रहती है। काव्य और संगीत के इस मिश्रित रूप में प्रधानता वस्तुतः संगीत की रहती है शब्दों का योग गौण होता है। यही कारण है कि लोकगीतों की सरसता गायक के कंठ में होती है मुद्रित रूप में वे अपना प्रायः अधिकांश प्रभाव खो बैठते हैं।

यह सही है कि हमारा अधिकांश काव्य—विशेषतः मध्यकालीन काव्य किसी न किसी रूप में संगीत का सहारा लेता रहा है। यहाँ तक कि आधुनिक काल में जयशंकर प्रसाद ने तो अपने कलाओं संबंधी विवेचन में संगीत को कविता का वाहन कह दिया है। स्पष्ट ही यह एक भ्रामक दृष्टि है। पर सूर तुलसी और मीरा में भी—निश्चय ही संगीत का सहयोग काव्य के अपने उत्कर्ष की तुलना में कम है। संगीत के प्रभाव से प्रायः सर्वथा मुक्त रूप हिन्दी साहित्य में आधुनिक कविता में मिलता है जिसका सारा संगठन भाषा के सृजनात्मक प्रयोग पर निर्भर रहता है संगीत और छंद का सहारा उसने छोड़ दिया है। सामान्य भाषा में जो अपनी अंतर्निहित लय होती है उसी से रचना संभव हो जाती है। आज की कविता कविवर सुमित्रानंदन पंत के शब्दों में प्रास के रजत पाश से मुक्त हो चुकी है अलंकारों की उपयोगिता अस्वीकार कर चुकी है और छंदों की पायल उतार चुकी है। ऐसी स्थिति में कविता की सम

मध्यकालीन काव्यभाषा में अनेकार्थक शब्दों और पर्यायों का काफी महत्व था, क्योंकि छंद और तुक में भी कविता के बहुत-से उद्देश्यों की पूर्ति हुई मान ली जाती थी। पर आज के सदन में 'सबब' और 'हरि' जैसे शब्द—जिनके अनेक परस्पर असंबद्ध अर्थ मान गए हैं, और जिन्हें प्रसंग के अनुसार ग्रहण करने को कहा गया है—भाषा की समृद्धि नहीं वरन् अव्यवस्था के सूचक हैं। यही स्थिति पर्यायों की है। बिना छायांतर अंतर किए हुए आंख के लिए नैन, लोचन, नयन, दृग आदि पर्याय समकालीन काव्यभाषा में तो बाधक हैं ही, सामान्य भाषा सीखनेवाले के लिए भी कठिनाई उत्पन्न करते हैं। इस स्थिति को वर्तमान युग के कोशकार रामचंद्र वर्मा ने समझा है, 'एक 'सारंग' शब्द के ही हिन्दी शब्द सागर में साठ से अधिक अर्थ दिए हैं, और 'कमल' के तो शायद सैकड़ों पर्याय हैं। इस प्रकार के हजारों शब्द हैं। कवि लोग एक-एक छन्द में दस-दस और बीस-बीस जगह ऐसे किसी एक ही शब्द का प्रयोग करके उन्हें दिमागी कलाबाजी का क्षेत्र बनाते रहे हैं पर आजकल की परिस्थिति देखते हुए इस प्रकार के अधिकतर शब्द अपने अत्यधिक अर्थों के सहित प्राय फालतू ही हैं। ('अच्छी हिन्दी, हमारी आवश्यकताएँ)।

अब अनेकार्थकों और पर्यायों से आगे हम ऐसी काव्यभाषा विकसित करनी है जिसमें एक शब्द का एक ही अर्थ हल्की-सी लक्षणा के द्वारा विभिन्न स्तरों पर अलग अलग छाया के साथ विवृत हो। अँग्रेजी भाषा की अर्थगत समृद्धि अधिसंख्यक शब्दों के कारण न होकर इन बहुस्तरीय अर्थों के कारण है। एक ही 'हाउस' साधारण घर भी है और पार्लामेंट भी। हिन्दी में इसके लिए दो शब्द चलते हैं 'घर', और पारिभाषिक छाया के लिए 'सदन'। काव्यभाषा की अपराजेय संभावना बहुस्तरीय शब्दों पर निर्भर है। 'फ्लेश' कच्चा मांस तो है ही पर यह अँग्रेजी शब्द उद्दाम वासना शारीरिक भोग, इंद्रियजन्य सुख और परस्पर मिलती-जुलती न जाने कितनी छायाएँ देता है। हिन्दी में काव्यभाषा तथा सामान्य भाषा के बीच, अपेक्षया अधिक पाठकों के न होने के कारण, बना संपर्क-सूत्र अभी नहीं है फिर भी मध्यकालीन काव्यभाषा के कुछ प्रयोग अपनी लाक्षणिक छायाओं के साथ प्रयुक्त होते हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि अँग्रेजी में संज्ञा शब्दों के उतने पर्याय नहीं हैं जितनी कि क्रियारूपों की विभिन्न छायाएँ हैं।

कथावस्तु से ऊपर उठकर काव्यभाषा ही कविता बन जाती है, इसका एक रोचक उदाहरण रामचरितमानस में मिलता है। सीता-हरण प्रसंग के पूर्व राम सीता को अग्नि में रख देते हैं। इस प्रकार जो सीता रावण द्वारा हरी

एक प्रकार कविता की अव्यवस्था हो।"[१] भाषा का प्रारंभिक रूप काव्यात्मक था या नहीं, यह कहना तो कठिन है, पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि भाषा अपने मूल रूप में लयात्मक ध्वनियों का संघटन थी। इन लयात्मक ध्वनियों को ही काव्य की आरंभिक भाषा के रूप में मान लें तो दूसरी बात है। इन 'लयात्मक ध्वनियों' से अर्थ बाद में जुड़ा होगा, ऐसा मानना संगत लगता है। ध्वनि उत्पन्न करना शरीर की एक सहज वृत्ति है, और मनुष्य की आरंभिक समझ ने उन ध्वनियों को कुछ स्थूल पदार्थों और स्थितियों से संबद्ध किया होगा। बच्चों की भाषा का अध्ययन और पर्यवेक्षण भी हमें इसी निष्कर्ष की ओर ले जाता है।

विकास क्रम में भाषा के दो रूप देखे जा सकते हैं। एक तो वह जो आरंभिक, स्थूल और कामचलाऊ रूप है जब अर्थ का आरंभिक मानवीय समझ (चिंतन कहना उचित न होगा) के द्वारा ध्वनियों से संबद्ध किया जाता है। भाषा का यह आरंभिक रूप लयात्मक और आवेग से प्रसूत हो सकता है, पर इसे अर्थ की सूक्ष्मता न होने से काव्यात्मक कहना संगत नहीं जान पड़ता। एक बार बन जाने पर यह कामचलाऊ व्यावहारिक रूप भाषा प्रयोगकर्ताओं की संवेदना को एक स्तर पर नियमित और अनुशासित करने लगता है। हम अपने गहरे चिंतन के आयामों को बहुत कुछ इस सूक्ष्म भाषा रूप में उपलब्ध करते हैं। भाषा और संवेदना की इस अंतर प्रक्रिया को दृष्टि में रख कर यह कहा जा सकता है कि भाषा यथार्थ के प्रति हमारी समूची प्रतिक्रिया का कुल योग है, अपनी स्थूल स्थिति में सामान्य भाषा के रूप में और अमूर्त स्थिति में काव्यभाषा के रूप में। पहले रूप में भाषिक अर्थ स्थूल समझ से व्युत्पन्न और उसके अनुवर्ती होते हैं और दूसरी जगह यह अर्थ और संवेदना के रूप में उसकी सूक्ष्म उपलब्धि, भाषा से अनुशासित होने लगती है।

प्रस्तुत विवेचन को समाप्त करने के पूर्व भाषा और संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में कुछ चर्चा उचित होगी यों इसका विस्तृत विवेचन हिन्दी का स्वरूप' में आगत होगा। काव्यभाषा के संदर्भ में इस समस्या की विशिष्ट स्थिति स्वयंसिद्ध है। यों कई चिंतन भाषा का विवेचन सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में अलग मुख्यतः व्याकरण के रूप में करना चाहते हैं पर सामान्य भाषा में भी और विशेषतः काव्यभाषा में नामवाची शब्दावली सांस्कृतिक तथा सामाजिक संदर्भों में विकसित होती है। हिन्दी में पारिभाषिक समस्या का विचार करने वालों

---

१ पोएटिक डिक्शन पृ० ५८

कालीन समझ के लिए काव्यभाषा का ही अंतिम और तात्त्विक प्रतिमान माना है, क्योंकि कविता के संघटन में भाषा प्रयोग की मूल और केंद्रीय स्थिति है— 'कविता उत्कृष्ट शब्दों का उत्कृष्ट क्रम है।' समकालीन काव्य ही नहीं प्राचीन काव्य की समीक्षा भी इस प्रतिमान के आधार पर निश्चय ही अधिक सार्थक ढंग से की जा सकती है। काव्य प्रवाह एक है तो उसकी समझ को भी अलग अलग टुकड़ों में नहीं बाँटा जा सकता।

काव्यभाषा का विश्लेषण कविता की रचना प्रक्रिया को समझने और उसकी व्याख्या करने के लिए तो मुख्य सूत्र सिद्ध होता ही है, दूसरी ओर भाषा की अपनी प्रकृति का सम्यक ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी एक महत्वपूर्ण साक्ष्य है। कई सुप्रसिद्ध भाषावैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि भाषा का आदिम रूप अपनी प्रकृति में बहुत कुछ काव्यात्मक-संगीतात्मक था। काव्य और संगीत का यह साहचर्य भाषा के आरंभिक काल से देखा जा सकता है, जो वर्तमान युग में बहुत-कुछ क्षीण हो चुका है। साहचर्य की इस लंबी अवधि में शायद काव्य ही संगीत पर अधिक निर्भर रहा, अन्यथा संगीत तो काव्य के 'शब्द' मात्र स्वीकार करता रहा है, भारतीय प्रणाली में 'बोल' और पश्चिमी प्रणाली में 'शब्द'। संगीत की अपनी प्रक्रिया में इन 'बोलों' और 'शब्दों' के अर्थ का कोई महत्व नहीं रह जाता, भारतीय संगीत प्रणाली में जिसका अच्छा उदाहरण 'तराना' है, जो संगीत का विशुद्धतम और श्रेष्ठतम रूप माना जाता है। क्लासिकी पद्धति के इस गायन में गायक मानो अपने संपूर्ण शरीर और कंठ को एक वाद्ययंत्र ही बना लेता है, जो अन्य वाद्यों की तुलना में निश्चय ही अधिक सुकुमार, संवेदनशील और व्यवस्था योग्य है। संगीत के इस रूप में शब्दों का कोई अर्थ नहीं रह जाता, सारा नाद मानो शरीर के वाद्य से उत्पन्न होता है। इस अनुभूति को कबीर के इस बेजोड़ बिंब प्रयोग से और अच्छी तरह समझा जा सकता है—

> सब रग तांति रबाब तन बिरह बजावै नित्त,
> और न कोई सुनि सकै कै साई कै चित्त।

आदिम भाषा के काव्यात्मक होने की बात शैली ने भी कही है। इस विषय का विवेचन करते हुए बारफील्ड ने उनका मत उद्धृत किया है "समाज की आरंभिक स्थिति में प्रत्येक लेखक अनिवार्यतः कवि होता है क्योंकि भाषा स्वयं कविता होती है प्रत्येक मौलिक भाषा मानो अपने स्रोत के निकट

हो जाते हैं अतः भाषा के अत्यंत सामान्यीकृत स्तर पर स्थापित हो जाते हैं भाषा हो जाते हैं। जबकि अलंकार अपने नाम से भी और अपनी स्थिति में अतिरिक्त सजावट के रूप में देखे जा सकते हैं भाषा की रचना प्रक्रिया का अनिवार्य अंग नहीं बन पाते।

प्रतीक किसी सूक्ष्म भाव की अभिव्यक्ति के लिए एक अपेक्षया स्थूल तत्त्व का चुनाव है। जैसे सूर्य ज्ञान का प्रतीक है अँधेरा विभ्रम का प्रतीक है कमल स्निग्धता और मंगल का प्रतीक है। कालांतर में प्रतीक भाषा की सामान्य शब्दावली की तरह बहुप्रचलित और स्वीकृत हो जाते हैं जैसे कि उपयुक्त प्रतीक हो गए हैं। फिर कविता के विकास क्रम में नये प्रतीक बनते हैं और क्रमशः स्वीकृत होकर रूढ़ हो जाते हैं। प्रतीक विधान का यह रूप काव्यभाषा के विकास का एक स्तर है। अगला और अधिक विकसित स्तर बिंब प्रक्रिया का है। बिंब या भावचित्र की प्रक्रिया अधिक संश्लिष्ट होती है। यह कई तत्त्वों से निर्मित होने के कारण स्थिर न होकर गतिशील होता है और उसका प्रतीक की तरह पूर्वस्वीकृत अर्थ नहीं होता। इसलिए कविता में अर्थ को स्वायत्त तथा विकसनशील बनाए रखने का मुख्य दायित्व बिंब पर होता है।

अधिकतर आधुनिक पश्चिमी समीक्षक—कुछ रचनाकार-समीक्षकों को अपवाद मानना होगा—बिंब का महत्त्व उसके चाक्षुष संवेदन के कारण मानते हैं। बिंब में चित्र का भाव आता जरूर है पर चित्र का दृश्य भाव यहाँ प्रधान नहीं है, वरन् चित्र का संश्लिष्ट रूप—कम्पोज़ीशन—होना प्रमुख बात है। इस तरह चाक्षुष पक्ष यानी कि एक दृश्य प्रतिमा का निर्माण कर सकना वस्तुतः बिंब विधान का प्राथमिक और गौण स्तर है। मुख्य बात यह है कि संश्लिष्ट गठन होने के कारण बिंब में उसके विभिन्न तत्त्वों के बीच संपर्क और टकराहट से एक द्वंद्वात्मक (डायलेक्टिक) प्रक्रिया परिचालित होती है जो अर्थ को विकसनशील बनाती है। इस तरह बिंब प्रधानतः और अनिवार्यतः एक अर्थ संकल्प है और इसलिए रचना में काव्यभाषा या कि काव्य बनने की मुख्य प्रक्रिया है।

भाषा के सामान्य प्रयोग में बात और जिस भाषा में वह बात कही जा रही है उनके बीच शाब्दिक स्तर पर साम्य होने पर भी अनुभवगत अंतर होता है। पर कविता की भाषा में यानी अधिकतम सर्जनात्मक भाषा में यह अंतर नहीं रह जाता बात और भाषा में अभेद रहता है। प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने अभिधा और व्यंजना का जो लक्षण निर्धारित किया है उसमें स्थिति इसके कुछ विपरीत है। वहाँ बात और भाषा में व्यंजना शब्दशक्ति के अंतर्गत सीधा

बडी समृद्ध शब्दावली है—ताऊ, चाचा, मामा, मामा, फूफा मौसा अँग्रेजी के एक शब्द 'अंकल' के विभिन्न रूपो को व्यक्त करते हैं। इन सबधो की बडी सुस्पष्ट स्थिति हमारी भाषा म हमारे सयुक्त परिवार की प्रथा के कारण है। यह सामाजिक जीवन प्रणाली का साक्ष्य है। काव्यभाषा म हमारी इस सास्कृतिक चेतना का रूप और गहरा होता है। वस्तुत उसका स्वरूप एक बडी सीमा तक सास्कृतिक आधार पर गठित होता है। सामान्य शब्द प्रयोग, सदर्भ, प्रतीक, बिंब तथा अप्रस्तुत विधान के विविध रूप सास्कृतिक अनुषगो को समाहित किए होते हैं। और उन्ह यथावश्यक रूप म जाग्रत करते हैं। एक समाज म 'बुलबुल' आवारा लडको से जुडी हुई है तो दूसरे सांस्कृतिक परिवेश म वह कोमलता और सवदनशीलता की प्रतिमूर्ति है। हिंदी और उर्दू काव्यभाषा व्याकरण की दृष्टि से अलग न होने पर भी इस सास्कृतिक परिवेश की भिन्नता को कहा प्रकट करती है यद्यपि समकालीन उर्दू कवि अब अपने को भारतीय सास्कृतिक परिवेश से अधिक जोडते है। सस्कृति न केवल साहित्य को रूपायित होने म योग देती है वरन् साथ-साथ भाषा को भी अधिक सूक्ष्म और अर्थवान बनाती है, जो काव्यभाषा की मौलिक आवश्यकता कही जा सकती है। भाषा, साहित्य, और सस्कृति का विकास परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करता चलता है, और एक व्यापक जातीय राष्ट्रीय प्रक्रिया का अग है। युग-युग की सवेदना को प्रतिफलित कर सकना और हर युग म दी जाने वाली अपनी ही व्याख्या को आत्मसात् करते चलना, यही श्रेष्ठ काव्य रचना का मूल गुण और विशिष्ट क्षमता है, जो अर्थसचरण के द्वारा काव्यभाषा की अपनी आन्तरिक प्रक्रिया मे सभव होती है। भाषिक सर्जनात्मकता का यह गुण दर्शन, धर्म अथवा विज्ञान म नही, साहित्य म ही सभव होता है।

बिंब प्रक्रिया

भाषिक सर्जनात्मकता कसे गतिशील होती है इसका कुछ और विस्तार मे अध्ययन अपेक्षित होगा। इस दृष्टि से बिंब प्रक्रिया की व्याख्या उपयोगी हो सकती है, क्योकि भाषिक सर्जन म बिंब विधान का विशिष्ट महत्व है। प्रतीक और बिंब काव्यभाषा की निर्मिति म मुख्य तत्त्व हैं। ये दोनो ही विभावन मूलत पश्चिमी समीक्षा के हैं। भारतीय साहित्य चिंतन का अलकार विधान प्रस्तुत और अप्रस्तुत को प्राय साथ-साथ ले चलने के कारण रचना शिल्प या रचना-कौशल का अग तो है पर काव्यभाषा के विकास म पर्यवसित नहा हो पाता। प्रतीक और बिंब अप्रस्तुत होते हुए भी भाषिक प्रक्रिया म प्रस्तुत के स्थानापन्न

सबध नहीं रह जाता। वस्तुत ऐसा मानना व्यजना के चमत्कारी पक्ष पर अधिक बल देना है। या व्यापक रूप म कविता की अथप्रक्रिया के लिए 'व्यजना' बहुत उपयुक्त शब्द है। पर पारिभाषिक रूप म शास्त्रीय लक्षणकारो न व्यजना को अच्छे ढग स उपस्थित नहीं किया। यह सारी पडताल शब्दश अथ की दृष्टि म की गइ है अनुभव की दृष्टि स नहा। अधिकतम सजनात्मक काव्यभाषा म— जो व्यजना से अनिप्रेत है— मुख्यार्थ' और व्यग्याथ की अलग-अलग परिकल्पना नहा रह सकती। वहाँ तो समूचा अथ समरस और सश्लिष्ट है, और व्यग्याथ' के ही सूक्ष्म स्तरा की टकराहट स यजना परिचालित होती है, 'मुख्याथ का स्वय कोइ रूप नहा रह जाता। पश्चिमी साहित्य चिंतन म कही यह ठीक ही कहा गया है कि कविता का कोई अथ नहीं होता कविता स्वय होती है। आधुनिक रचना प्रक्रिया तथा साहित्य चिंतन के सदभ म जब हम बात और भाषा के अभेद और अद्वत की बात कहत हैं तो हम तनाव पर उतना ही बल दत हैं जितना कि अभेद पर। अनुभव और अथ का यह सबध समझना कविता और सृजनात्मकता की प्रक्रिया को सभवत अधिक गहरे और प्रकृत रूप म समझना है। यही भाषा और सवदना का अद्वत है जहा दोना एक नहीं हैं, पर अलग-अलग होकर भी एक हो जात हैं। साहित्य के क्षेत्र म इस अद्वत का परिचालन प्रतीक और बिंब जसे भाषिक रचनात्मक तत्वा की अपनी प्रक्रिया से होता है।

रचना म अथविकास प्रक्रिया की यह समझ आधुनिक पश्चिमी तथा भारतीय साहित्य चिंतन क दोना क्षेत्रा म अभी नयी है। एलियट—जो बिंबवादी आन्दोलन स भी सबद्ध रह हैं—का प्रख्यात विभावन ऑब्जक्टिव कोरिलेटिव', उदाहरण के लिए अथ की इस सूक्ष्म, सुकुमार प्रक्रिया को अनदखा कर जाता है। आधुनिक कविता न यह क्षमता विकसित की है कि यहाँ पूरी रचना का अथ एक और सीधा नहा है पर रीतिकालीन श्लिष्ट काव्य की तरह दो अलग-अलग अथ भी नहीं हैं वरन एक ही अथ क दो सूक्ष्म स्तर अपने तनाव और सश्लष स एक वहत्तर अथ की सष्टि करत हैं। रचना म अथ का यह अद्वत भाव शरीर-समाग और ब्रह्म-साक्षात्कार जसी सजन प्रक्रियाओं के समानान्तर देखा जा सकता है।

जसा पहल कहा गया समीक्षा क क्षत्र म बिंब की उदभावना मूलत पश्चिम की है। वहाँ यह उद्भावना प्रसिद्ध दाशनिक हुल्म तथा कवि पाउड के सहयोग स बीसवा शताब्दी क आरभ म क्रमश आन्दोलन के रूप म परिणत हुइ, और फिर शीघ्र हो, प्राय १९१७ ई० के आस पास उस की विरोधी प्रतिक्रिया भी हुई। पर बिंब के इस पक्ष और प्रतिपक्ष के बीच और इन विवादा क परि-

जाता। यह ब्यौरा दृश्यमयता भले बढ़ाता हो, अर्थप्रक्रिया को समृद्ध नहीं करता, स्थूल स्तर पर सादृश्य को फैलाता है पर सूक्ष्म अर्थ स्तरों के विकास को बाधित करता है। सांग रूपक का दृश्य विधान पाठक की कल्पना शक्ति को कुछ उत्तेजित करता है, पर एक सीमा के बाद वह उस दृश्यमयता में ही उलझ जाती है और अर्थ की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को परिचालित नहीं होने देती।

अर्थ वैविध्य के प्रसंग में यहाँ बिंब प्रक्रिया के स्पष्टीकरण के लिए श्लेष विधान से उसकी तुलना की जा सकती है। संस्कृत और मध्यकालीन हिंदी काव्य में श्लेष के सहारे एक शब्द के कई-कई अर्थ संभव किए जाते थे। इस प्रक्रिया में बल अधिकतर चमत्कार और कौशल पर था अर्थ को सघन और विकसनशील बनाने पर नहीं। चमत्कार की कसौटी यही थी कि कितने असंबद्ध अर्थ एक शब्द के सहारे जुटाए जाएं। पर कुशल कवि लाक्षणिक अर्थों की भावात्मक अन्विति पर ध्यान देते थे। 'कहै कबीर गुर दिया पलीता सो झल बिरल देखी', यहाँ झल में प्रकाश और आध्यात्मिक अनुभूति के अर्थ परस्पर संबद्ध हैं। इसलिए यहाँ चमत्कार प्रधान नहीं, वरन् अर्थ को प्रशस्त करने का गहरा उपक्रम है।

सहज श्लेष प्रयोगों के सहारे रत्नाकर ने उद्धव शतक में अपना प्रसिद्ध सांग रूपक रचा है—'रस के प्रयोगनि के सुखद सुजोगनि के जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई है।' इस कवित्त में गोपियों का कठोर विरह और विषम ज्वर तुलनीय हैं और श्लिष्ट शब्द दोनों सदृश संदर्भों में समान संगति और उपयुक्तता के साथ अर्थ ध्वनित करते हैं। कहीं भी दूरारूढ़ अर्थ की आवश्यकता नहीं होती। इस दृष्टि से आधुनिक काल के आरंभ में रचित यह श्लेषयुक्त लंबा सांग रूपक रीतिकाल की अपनी कला को भी समृद्धतर बनाता है। पर फिर श्लेष के दोनों पक्षों में समाकर अर्थ समाप्त हो जाता है।

आधुनिक रचनाकार के बिंब प्रयोग श्लेष के भिन्न अर्थों को न लेकर एक ही शब्द की मिलती जुलती अर्थ छायाओं में हल्का तनाव उत्पन्न करते हैं और इस तरह अर्थ को सूक्ष्म स्तर पर गतिशील रखते हैं। कामायनी में श्रद्धा की मुस्कान के अंकन के लिए प्रयुक्त किसलय पर अलसाई किरण का बिंब बहुचर्चित है—

> और उस पर मुख पर वह मुसक्यान !
> रक्त किसलय पर ले विश्राम
> अरुण की एक किरण अम्लान
> अधिक अलसाई हो अभिराम।

के अथ की सहायता से, उसी आधार पर एक सूक्ष्म सश्लिष्ट भावचित्र प्रस्तुत होता है। बिंब में 'मुख्याथ' और 'व्यग्याथ' का द्वैत नहीं है, और इसीलिए यह मान्यता भी नहीं जाती कि 'मुख्याथ' का धरातल स्थूल और निचला है, और 'व्यग्याथ' का सूक्ष्म और उदात्त—भारतीय काव्यशास्त्र में इसके लिए दृष्टांत दिया गया है घटे से उत्पन्न अनुरणन का। बिंब प्रक्रिया में 'मुख्याथ' और व्यग्याथ' जैसा अलग-अलग कुछ नहीं है, वरन् जैसा कहा गया वहाँ समूचा अथ समरस और सश्लिष्ट होता है और 'व्यग्याथ' के ही सूक्ष्म स्तरों की टकराहट से यह अथ प्रक्रिया परिचालित होती है। घटे की स्थूलता और अनुरणन की सूक्ष्मता में बहुत अतर है। बिंब में सश्लिष्ट गठन होने के कारण उसके विभिन्न तत्त्वों के बीच पारस्परिक सपक और टकराहट से एक द्वद्व प्रक्रिया चलती है, जो अथ को बाधती नहीं वरन् सतत विकसनशील बनाए रखती है। भारतीय ध्वनिशास्त्र में अनुरणन की धारणा सही है पर इस अनुरणन प्रक्रिया के कारण रूप में जो घटे की स्थूल स्थिति है वह अथ विकास की प्रक्रिया में शब्दों की नहीं है। घटा साधन है साध्य नहीं पर कविता के शब्द साधन और साध्य दोनों एक साथ हैं। यहाँ स्मरणीय है कि उपयुक्त विवेचन व्यजना के शास्त्रीय स्वरूप को लेकर है अपने सामान्य और उन्मुक्त रूप में तो व्यजना कवितामात्र की अथ प्रक्रिया का दूसरा नाम है।

बिंब विधान को जगह जगह आचाय रामचंद्र शुक्ल ने सश्लिष्ट कहा है। इसका एक अच्छा उदाहरण जयशंकर प्रसाद की काव्यभाषा प्रस्तुत करती है—व्याकरणिक भूलें जो उनके काव्य में जगह-जगह मिलती हैं उनके बिंब प्रसगों में नहीं के बराबर हैं। इससे समझा जा सकता है कि बिंब और उसका अनुभव समग्र विकसित होता है। उसमें यदि भूल होगी तो पूरे सदभ में न कि अलग अलग टुकड़ों में। अनुभव को उसकी सपूणता और गतिमयता में पकड़ने के लिए बिंब रचना यथाथ साक्षात्कार का एक दक्ष उपाय है। साधारण शब्द अनुभव को जड और निःशेष कर देता है पर बिंब अनुभव को न केवल उसकी वतमान स्थिति में वरन् उसकी सभावना में भी उसकी पूरी जटिलता और सूक्ष्मता के साथ अकित करता है। पहले उद्धृत श्रद्धा के सौंदय वणन के अतगत उसकी मुस्कान का बिंबपरक अकन फिर से स्मरण करना होगा। यहाँ यदि श्रद्धा की मुस्कान की तुलना केवल किरण से की जाती तो एक प्रतीक बनता (मुस्कान = किरण) और वह मुस्कान के अनुभव को उस समग्र और सूक्ष्म रूप में व्यजित न कर पाता। पर यहाँ एक पूरा बिंब रचा गया है—नव सूय की दूर से आती हुई किरण जो कुछ थक गई है और एक रक्तिम कामल किसलय को पाकर क्षण भर के लिए—

यहाँ 'अलसाई' शब्द में थकान का जितना आलस है, उतना ही सौंदर्य और मद का आलस है और साथ ही अलसान की संक्षिप्त अवधि भी व्यंजित होती है। इसी तरह अलसान में जितनी थकन की व्यंजना है उतनी ही ताजगी की भी। एक सामान्य नामधातु की इन विविध संबद्ध छायाओं के परस्पर तनाव से बसा ही सूक्ष्म और सुकुमार प्रभाव निर्मित होता है जैसा श्रद्धा के सौंदर्य के अनुभव के लिए कवि रचना-स्तर पर उचित मानता है। एक कुशल कवि के लिए कहने और न कहने के बीच सही अनुपात साध पाना कितना जरूरी है यह ऐसे ही संवेदनशील अंकनों में समझा जा सकता है।

अर्थ की विविध प्रक्रियाओं के प्रसंग में प्रतीक और बिंब तथा साथ रूपक और रूपक का हमने चर्चा की है और उनके अंतर तथा अंतरसंबंध को समझा है। भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत शब्द-शक्ति के मूलाधार के रूप में लक्षणा-व्यंजना को स्वीकार किया गया है। पर प्रतीक और बिंब के साथ इनका सीधा सादृश्य स्थापित नहीं किया जा सकता। प्रतीक और लक्षणा की स्थिति परस्पर निकट है, पर दोनों एक नहीं हैं। हाँ, लक्षणा और 'मेटाफर' में समानता देखी जा सकती है। चिट्ठी के लिए 'पत्र' शब्द (प्राचीन काल में चिट्ठी भूजपत्र आदि पर लिखी जाती थी) लाक्षणिक या मेटाफारिकल' प्रयोग है। लक्षणा या मेटाफर में भाव को एक स्थिति से दूसरी स्थिति में प्रक्षिप्त किया जाता है जैसे चन्द्रमा की किरणों को उसके हाथ कहना (मैक्समूलर ने मेटाफर के उदाहरण में बताया है सूर्य की किरणों को सूर्य के हाथ या उँगलियाँ कहना)। सुमित्रा-नन्दन पंत ने तो बादल में लिखा ही है—

समुद परते शुचि ज्योत्स्ना मे
पकड़ इंदु के कर सुकुमार।

परन्तु प्रतीक की स्थिति लक्षणा और मेटाफर दोनों से भिन्न है। प्रतीक किसी एक शब्द के द्वारा व्यापक और सूक्ष्म भाव को व्यक्त करता है या कहिए उस भाव-विशेष का अमूर्तन है। प्रतीक के रूप में 'बौना' का अर्थ हो जाएगा, किसी विकास का अवरुद्ध हो जाना—शारीरिक विकास रुद्ध अर्थ में होता है पर जातीय अथवा राष्ट्रीय संवेदना का विकास रुक जाना 'बौना' का प्रतीकार्थ होगा।

जिस प्रकार प्रतीक की प्रकृति लक्षणा या मेटाफर में भिन्न है उसी प्रकार व्यंजना की शास्त्रीय व्यवस्था बिंब से अलग है। व्यंजना प्रायः [illegible] है जो सामान्यतः रचना में प्रयुक्त शब्दों के संयोजन से प्रकट [illegible], [illegible] यहाँ 'मुख्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ' के अलग-अलग स्तर [illegible] हैं। पर बिंब का मूलाधार हर दृष्टि से कवि के लिए [illegible]

ममिता, पृ० ४३)। यहाँ स्पष्ट है कि शुक्ल जी 'गोचर प्रत्यक्षीकरण' पर अधिक बल दे रहे हैं जो इसलिए ठीक भी है कि 'बिंब' में 'गोचर प्रत्यक्षीकरण' से आगे अर्थ संकल्प का भाव तो आधुनिक काव्य और साहित्य चिंतन में विकसित हुआ है। परंपरित भारतीय काव्यशास्त्र में 'बिंब' की परिकल्पना भले न हो, पर भारतीय काव्य में बिंब या उससे मिलते जुलते प्रयोग बराबर देखे जा सकते हैं। कहीं ये उत्प्रेक्षा हो सकते हैं और कहीं साग रूपक और कहीं-कहीं विशुद्ध बिंब। पर मध्यकालीन काव्य में ऐसे बिंब प्रयोग 'गोचर प्रत्यक्षीकरण' के लिए ही हैं अर्थ की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का परिचालन तब तक वहाँ अकल्प्य है। इस प्रसंग में बिंब विधान से संबद्ध शुक्ल जी की मान्यता उद्धृत करना उचित होगा—'काव्य में बिंब स्थापना (Imagery) प्रधान वस्तु है। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों में यह पूर्णता को प्राप्त है। अंग्रेजी कवि शेली इसके लिए प्रसिद्ध है। (जायसी ग्रंथावली भूमिका, पृ० ११७) तथा कविता में कही गई बात चित्र रूप में हमारे सामने आनी चाहिए यह हम पहले कह आए है। अत उसमें गोचर रूपों का विधान अधिक होता है।' (कविता क्या है?—कविता की भाषा चिंतामणि भाग १ पृ० १७५)

कबीर के लिए प्रकृति वर्णन का विशेष अवकाश नहीं, पर उन्होंने भक्त की विविध मनःस्थितियों के अंकन के लिए कहीं-कहीं अच्छे बिंब विकसित किए हैं। भक्त के लिए बालक और ईश्वर के लिए पिता या माता की उपमा पुरानी है। कबीर ने इस सादृश्य को लेकर एक सरल और मार्मिक बिंब रचा है।

हरि जननी मैं बालक तेरा।
काहे न अवगुन बकसहु मेरा॥
सुत अपराध करत है केते।
जननी के चित रहैं न तेते।
कर गहि केस करै जो घाता।
तऊ न हेत उतारै माता॥
कहै कबीर इक बुद्धि विचारी।
बालक दुखी दुखी महतारी॥

मां और बेटे के संबंधों की स्नेहपूर्ण सरलता निश्छलता पूरे बिंब में परिव्याप्त है। कबीर जैसा कि जन विश्वास है पढ़े लिखे भले न हों और परंपरित काव्य शास्त्र में बिंब की धारणा भी भले न हो पर यह पूरा छंद गोचर प्रत्यक्षीकरण की दृष्टि से बनिया बिंब है।

सूरदास की कला प्रकृति और मानवीय सौंदर्य के विविध दृश्यों को अंकित

क्षण भर के लिए ही, क्योंकि उसे दूर जाना है—विश्राम की मुद्रा में अलस भाव से लेटी हुई है। यह पूरा बिंब या भावचित्र कई तत्वों से निर्मित हुआ है, और उनका आपसी संबंध और टकराहट मुस्कान के रूप को अधिकाधिक गहरे और सूक्ष्म स्तर पर विकसित करते हैं जहाँ उसकी ताजगी, सूक्ष्मता, अलस भाव और सौंदर्य सब मिलकर एक संकल्प बन जाते हैं। मुस्कान जितनी सूक्ष्म है उतनी ही कलापूर्ण और भावात्मक है। कवि ने अनुभव के इसी वैशिष्ट्य को अंकित करना चाहा है, और बिंब रूप में अंकित करते-करते न केवल उसे अभिव्यक्त किया है, वरन् मानो स्वयं भी उसे और अच्छी तरह समझा है। भाषा इस स्तर पर आकर अभिव्यक्ति ही नहीं, अभिव्यक्ति और अनुभव दोनों एक साथ हो जाती है।

हिंदी कविता के विकास क्रम में मध्यकालीन कवियों ने अधिकतर प्रकृति वर्णन के समय बिंब विधान का एक खास रूप में प्रयोग किया है यद्यपि उनका ध्यान, दृश्यमयता के तत्व पर अधिक है। वस्तुतः हिंदी तथा अँग्रेजी कविता की रचना प्रक्रिया में उतना अंतर नहीं जान पड़ता जितना कि भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र की प्राथमिकताओं के बीच है। इस प्रसंग में यह साफ समझा जाना चाहिए कि बिंब भारतीय मध्यकालीन काव्यशास्त्र में न हो कविता में है। जायसी और सूर की बिंबग्राहिणी शक्ति की आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सही सराहना की है। जायसी ने प्रकृति-वर्णन के अतिरिक्त विरह दशा के संदर्भ में भी कुछ मार्मिक बिंब विकसित किए हैं। जहाज टूटने पर मूर्च्छित पद्मावती बहते-बहते किनारे जा लगती है, जहाँ समुद्र की बेटी लक्ष्मी की एक सहेली उसे देखती है। पद्मावती की दीन दशा का वर्णन वह इस प्रकार करती है—

जो देखा, तिवइ है सासा। फूल मुवा, प मुई न बासा।

मूर्च्छित पद्मावती के लिए मुरझाया फूल पर निर्गंध नहीं—यह बिंब सटीक और मार्मिक है। जाग्रत होने पर पद्मावती प्रिय को स्मरण करती है, और प्रिय के न होने पर अपनी 'निरवलंबता' के बारे में कहती है—

आवा पवन बिछोह कर, पात परी बेकरार
तरिवर तजा जा चूरि कै, लागा केहि कै डार?

इस बिंब विधान की व्याख्या आचार्य शुक्ल ने इस प्रकार की है—'विरह दशा के भीतर 'निरवलंबता' की अनुभूति रह रह कर विरही को होती है। देखिए कैसा परिचित और साधारण प्राकृतिक व्यापार सामने रख कर कवि ने इस 'निरवलंबता' का गोचर प्रत्यक्षीकरण किया है— (जायसी ग्रंथावली

करने के कारण बिंब रचना के अपेक्षया अधिक निकट है। सौंदर्य के दृश्यविधान में कवि का प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा है, जिसमें भेद ज्ञानपूर्वक उपमेय में उपमान की प्रतीति होती है।' किन्तु बिंब की विशेषता है कि वह भेद ज्ञान को नहीं उभरने देता, इसीलिए वहाँ 'जानें'-'मानो' (उत्प्रेक्षा के चिह्न) जैसे प्रयोग विशेष अपेक्षित नहीं हैं। इस दृष्टि से उत्प्रेक्षा बिंब की निकट स्थिति में होने पर भी अपनी बलपूर्वक संभावना के कारण विधान में बिंब-जैसी सहज प्रवाह-युक्त नहीं होती। अपने रचना-संगठन की इस सीमा के बावजूद सूरदास की उत्प्रेक्षाएँ दृश्य विधान में बेजोड़ हैं। रासलीला का दृश्य है, प्रत्येक गोपी के साथ कृष्ण नृत्य कर रहे हैं—

मानौ माई घन-घन अंतर दामिनि
घन दामिनि दामिनि घन अंतर सोभित हरि ब्रज भामिनि

कृष्ण और गोपी के जनक युग्मों के लिए काले बादल और चमकती बिजली की घनिष्ठता के चित्र बहुत उपयुक्त हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि पद का आरंभ उत्प्रेक्षा के चिह्न (मानो) से होता है, पर इसके बावजूद प्रस्तुत का हल्का-सा उल्लेख बाद में होता है। कृष्ण के लिए बादल और युवती के लिए बिजली का उपमान पुराना हो सकता है, पर दोनों की पारस्परिक स्थिति की इस रूप में परिकल्पना उत्प्रेक्षा की विशेषता है। इन तत्त्वों के आपसी संबंध पर बल देना—'कम्पोज़ीशन' को उभारना—उस बिंब प्रक्रिया के विकास की आरंभिक स्थिति है। कृष्णलीला और उससे संबंधित अनेक चित्रों में सूर की उत्प्रेक्षाएँ जीवन का एक विराट् उत्सव के रूप में प्रस्तुत करती हैं।

सूर के लिए जैसी प्रिय उत्प्रेक्षा है, तुलसी के संदर्भ में वही स्थिति सांग रूपक की है। उन्होंने ये सांग रूपक भी प्रायः उत्प्रेक्षा के सहारे विकसित किए हैं (अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी), और इस प्रकार इन दोनों का योग एक खास ढंग से बिंब की सीमावर्ती स्थिति में आता है। सांग रूपक अपनी प्रकृति से विस्तृत और ब्यौरेवार अधिक होता है, फलतः उसमें चित्रमयता अधिक होती है। पर जैसा कहा जा चुका है, सांग रूपक में प्रस्तुत का साथ-साथ ब्यौरेवार उल्लेख होना, बिंब की तुलना में, अप्रस्तुत विधान की व्यंजना-क्षमता को क्षीणतर बना देता है। इन अलग-अलग उल्लेखों के होने से चित्र की संश्लिष्टता भी आहत होती है। कुल मिला कर अपने ब्यौरे के कारण सांग रूपक में चित्रण की समग्रता तो होती है पर अनुभव की सूक्ष्मता पूरे तौर पर विकसित नहीं हो पाती।

बिंब विधान की अपेक्षया सजग शुरुआत आधुनिक काल में खड़ीबोली

२

हिंदी काव्यभाषा के अध्ययन की समस्याएँ

हिंदी काव्यभाषा के अध्ययन की कुछ अपनी समस्याएँ हैं जिनका घनिष्ठ संबंध उसके अपने रूप विकास से है। यों तो प्रायः हर भाषा कुछ बोलियों का समूह है पर हिंदी का वैविध्य इस तुलना में कहीं अधिक है। पहली बात तो यह कि सामान्यतः भाषा और बोली के संबंध को समझाने के लिए माँ-बेटी का संबंध बताया जाता है। पर इस अर्थ में हिंदी की कोई बोली नहीं है। हिंदी प्रदेश की (उस अर्थ में हिंदी की नहीं) १८ बोलियाँ मानी जाती हैं। पर इनमें से कोई हिंदी से उत्पन्न नहीं है क्योंकि हिंदी तो इन सभी बोलियों का सामूहिक नाम है और इनमें से कई बोलियाँ अलग-अलग कालों में हिंदी क्षेत्र की काव्यभाषा का आधार रूप रही हैं। उदाहरण के लिए ब्रजभाषा को यदि हिंदी की बोली कहा जाए तो यहाँ 'हिंदी' पद का अर्थ क्या होगा? 'हिंदी' से किस रूप में ब्रजभाषा व्युत्पन्न हुई मानी जाएगी? इस तरह हिंदी और हिंदी प्रदेश की बोलियों का संबंध परंपरित भाषाविज्ञान की दृष्टि से पूरे रूप में नहीं समझा जा सकता। हिंदी का अपना रूप क्या है इस पर अपेक्षित विस्तृत विवेचन हम अगले अध्याय 'हिंदी का स्वरूप' के अंतर्गत करेंगे।

इस प्रसंग में दूसरी कठिनाई यह है कि हिंदी काव्यभाषा का आधार रूप बराबर बदलता रहा है। काव्यभाषा का ऊपरी ढाँचा तो समय में परिवर्तन के साथ सर्वत्र ही बदलता है। पर हिंदी के विशाल जातीय और भाषाई क्षेत्र में गत एक हजार वर्षों में कम से कम ८-९ बार काव्यभाषा का आधार रूप बदला है। कभी यह आधार खड़ीबोली था (उत्तर में अमीर खुसरो और दक्षिण में दकनी साहित्य), कभी खड़ीबोली-ब्रज का मिला जुला रूप (कबीर) कभी अवधी (जायसी) और फिर काफी लंबे अरसे तक ब्रजभाषा (सूरदास से लेकर भारतेंदु के काव्य तक) और अब फिर खड़ीबोली (श्रीधर पाठक से लेकर अब तक)। काव्यभाषा के विकास में ऐसा वैविध्य और विस्तार अतुलनीय है। अँग्रेजी जैसी बहुप्रचलित और समर्थ भाषा के मूल में भी ऐसा व्यापक जातीय विस्तार नहीं मिलता, उपनिवेशवाद के साथ-साथ वह दूर दूर तक फैली वह अलग

इस तरह यह देखा जा सकता है कि हिंदी कविता में बिंब के विकास में प्रस्तुत का उल्लेख क्रमश क्षीणतर होता जाता है और रचना की व्यजना क्षमता के लिए अप्रस्तुत पर बल बढता जाता है। समकालीन कविता तक आते-आते एक तरह से प्रस्तुत का लोप हो जाता है या यो कहे कि आधुनिक बिंब प्रक्रिया में प्रस्तुत-अप्रस्तुत अभेद हो जाते है और बिंब पूरे तौर पर भाषा का अग बन जाता है। पर इसकी चर्चा यहा अभीष्ट नहा।

●

पाएट्री फ्राम स्पसर टु व्रिजेज' (१९५५)। इसके अपेक्षया संक्षिप्त आकार में लेखक ने अंग्रेज़ी काव्यभाषा की विकास-यात्रा का अच्छा संवेदनशील अध्ययन प्रस्तुत किया है। बिना अपने को किसी परिपाटी में बाँधे हुए ग्रूम ने अंग्रेज़ी काव्यभाषा की विशिष्ट उपलब्धियों का आकलन किया है। जोसफ़ीन माइल्स का वृहद् ग्रंथ 'द कांटीनुइटी अ फ पोएटिक लैंग्वेज' (१९५१) एकेडमिक शैली की रचना है। १५४० ई० से लेकर १९४० ई० तक की अंग्रेज़ी काव्यभाषा का स्पष्ट विवेचन हुआ है। लेखिका ने प्रत्येक शती के प्रारंभिक दशक की रचनाओं को अपने विवेचन का आधार बनाया है और बड़े परिश्रम से प्रत्येक विवेच्य कृति की सहस्रावधि पंक्तियों में से संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि की आवृत्तियों की गणना की है। इतना सूक्ष्म अध्ययन संपन्न करने के लिए लेखिका को कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में कई फाउंडेशनों से आर्थिक सहायता आदि प्राप्त हुई है। लेखिका के अध्ययन में आवृत्ति गणना की प्रधानता है और इस प्रक्रिया की सीमाओं को उसने पहिचाना भी है। एक स्थल पर उसने लिखा है 'प्रयोगावृत्ति को मैं मूल्यपरक चयन और शिल्पगत पुनरावृत्ति का केवल एक लक्षण मानती हूँ, जो कविता की जटिल रचना प्रक्रिया और व्यवस्था का एक अंश मात्र है।'[५] वस्तुतः माइल्स का अध्ययन एक अर्थ में काव्यभाषा का अध्ययन न होकर काव्यभाषा के आधार का अध्ययन है। काव्यभाषा का आधार रूप परंपरा से गृहीत व्याकरणिक और वाक्यविन्यासपरक व्यवस्था है। इस अपेक्षया निर्वैयक्तिक आधार पर प्रत्येक प्रतिभासंपन्न कवि अपनी सर्जनात्मक काव्यभाषा विकसित करता है और इस प्रकार मानवीय यथार्थ के साक्षात्कार के लिए और उस प्रक्रिया में भी अपनी भाषा स्वयं बनाता है। माइल्स ने काव्यभाषा के आधार को जगह-जगह 'प्राइमरी लैंग्वेज' (प्राथमिक भाषा रूप) कहा है और जैसा संकेत किया गया उनका विवेचन अधिकतर काव्यभाषा के इस रूप तक ही सीमित है। एक स्थल पर लेखिका ने इस प्राइमरी लैंग्वेज की व्याख्या भी की है, 'प्राथमिक भाषा रूप और कविता के बीच क्या संबंध है? मेरी समझ में यह संबंध वही है जो प्रमुख उपादानों और उनके द्वारा निर्मित संपूर्ण कृतित्व के बीच होता है।'

यहाँ स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि प्रमुख उपादानों का विश्लेषण आवश्यक है पर उनके द्वारा निर्मित संपूर्ण कृतित्व की समझ तो किसी भी साहित्य

---

५ द कांटीनुइटी आफ पोएटिक लैंग्वेज, पृ० ३८३।

६ वही, पृ० १६२।

बात है। उसकी मौलिक काव्यभाषा का निर्माण इंग्लण्ड टापू की पाँच प्रमुख उपबोलियों के सहारे हुआ, यद्यपि उसका आधार रूप बराबर केन्द्रीय अँग्रेजी ही रही। प्राचीन अंग्रेजी काव्य भाषा के रूप विकास की चर्चा करते हुए यस्पसन का कहना है "कविता की भाषा समूचे इंग्लण्ड में किसी सीमा तक एक ही रही जान पड़ती है। कुल मिलाकर एक कृत्रिम ढंग की बोली, जिसमें देश के उन सभी भागों के शब्द घुल मिल गए, जहाँ कविता लिखी जाती है, कुछ कुछ वैसे ही जैसे होमर की भाषा ग्रीस में विकसित हुई थी।"[1]

इसके विपरीत जैसा अभी कहा गया हिंदी काव्यभाषा का आधार रूप ही कई बार बदलता रहा है। यहाँ यह न समझना चाहिए कि हिंदी काव्यभाषा के ये क्षेत्रीय रूप हैं, अर्थात् एक ही समय में अलग-अलग क्षेत्रों के कवि अपने-अपने क्षेत्र की भाषा को काव्यभाषा का आधार रूप बना रहे थे। वस्तुतः अलग अलग कालों में पूरे हिंदी प्रदेश (या मध्यदेश) की काव्यभाषा का रूप एक-सा रहा है। बहुत समय तक 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा को राजस्थानी और कबीर की भाषा को भोजपुरी माना जाता रहा। पर परवर्ती शोध ने प्रमाणित कर दिया कि चंदबरदाई और कबीर दोनों ने ही अपनी क्षेत्रीय बोलियों में काव्यरचना न करके हिंदी क्षेत्र की *तत्कालीन व्यापक काव्यभाषा ब्रजभाषा* में रचना की है, उनकी क्षेत्रीय बोलियों का कुछ स्वाभाविक मिश्रण हो गया हो, वह एक अलग बात है। पृथ्वीराज रासो की भाषा के बारे में सही स्थिति का अनुमान तेस्सातोरी[2] और ग्रियर्सन[3] ने काफी पहले कर लिया था कबीर की भाषा के पश्चिमी रूप के संबंध में इधर के शोध ने अच्छा प्रकाश डाला है।[4] हिंदी

---

१ ग्रोथ एंड स्ट्रक्चर आफ द इंग्लिश लग्वेज, पृ० ५१।

२ तेस्सीतारी "प्राकृत-पिंगल की भाषा की पहली संतान प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी नहीं बल्कि भाषा का वह विशिष्ट रूप है जिसका प्रमाण चंद की कविता में मिलता है, और जो भली भांति प्राचीन पश्चिमी हिंदी कही जा सकती है।"—पुरानी राजस्थानी, पृ० ६।

३ ग्रियर्सन "पृथ्वीराज रासो' की रचना पश्चिमी हिंदी के प्राचीन रूप में हुई है, राजस्थानी में नहीं।"—'*भारत का भाषा सर्वेक्षण*,' *खंड १, भाग १*, पृष्ठ ३२०।

४ रामस्वरूप चतुर्वेदी कबीर की काव्य भाषा का आधार रूप, 'भाषा', मार्च १९६५।

माताबदल जायसवाल कबीर की भाषा (१९६५)।

अलग उदाहरण देकर विचार किया गया है। [illegible] में [illegible] विवेचन किया है। [illegible] इसके पूर्व कामताप्रसाद गुरु ने अपने 'हिन्दी व्याकरण' (१९२०) के एक परिशिष्ट में कविता की भाषा पर बहुत संक्षिप्त विचार व्यक्त किया है। इसके बाद एक लम्बे समय तक काव्यभाषा विवेचन में या तो रस छन्द अलंकार की दृष्टि प्रधान रही या फिर उसके [illegible] का विवेचन होता रहा। कविता में भाषिक गठन की प्रक्रिया—जो गठन अधिक कविता है—उपेक्षित रहा। नलिनविलोचन शर्मा ने 'साहित्य का इतिहास दर्शन' (१९६०) में काव्यभाषा सम्बन्धी चिन्तन के महत्त्व और कठिनाई की ओर ध्यान आकृष्ट किया पर स्वयं इस विषय में कोई विचार प्रस्तुत नहीं किया।

हिंदी में सबसे पहले आधुनिक भाषावैज्ञानिक अध्ययनों में बोलियों के साहित्यिक रूपों का भी विवेचन हुआ है। हिंदी में भाषाविज्ञान के इन प्रयासों अध्ययनों ने बोलियों के मौखिक रूप के साथ-साथ उनके साहित्यिक रूपों का भी व्याकरणिक भाषिकी की दृष्टि से संपूर्ण विश्लेषण किया है। बाबूराम सक्सेना ने 'अवधी का विकास' (१९३७) में—जो हिंदी के आधुनिक भाषा-ग्रंथों में है—जायसी और तुलसी की अवधी का इसी रूप में विवेचन किया है। धीरेंद्र वर्मा के 'ब्रजभाषा' (मूल फ्रेंच–१९३५, हिंदी–१९५४) में भी साहित्यिक ब्रजभाषा का इसी प्रकार मौखिक रूपों के साथ-साथ व्याकरणिक विवेचन चलता है। इस तरह इन दो भाषा ग्रंथों के माध्यम से मध्यकालीन साहित्य में प्रयुक्त दो मुख्य काव्यभाषाओं के आधार रूप का काफी पहले विवेचन हो चुका है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से स्वभावतः शब्द रूपों का उपयोग व्याकरणिक साम्य के लिए अधिक होता है उनकी अपनी सर्जनात्मक क्षमता का विश्लेषण वहाँ अभीष्ट नहीं है। इन अध्ययनों के समानांतर रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (१९३८) के अंतर्गत मध्यकालीन साहित्य का नये रूप में विवेचन करते हुए हिंदी काव्यभाषा के आधार रूपों को अपने वर्गीकरण और विश्लेषण में महत्वपूर्ण ढंग से स्थान दिया है।

इसके उपरांत ऐसे शोध ग्रंथों की एक पूरी शृंखला हमारे सामने आती है जिनमें अधिकतर आदिकाल मध्यकाल के विविध कवियों की काव्यभाषा को आधार रूप अलग अलग शोध का विषय बना है। इन अध्ययनों में जैसा कहा

---

७ नलिनविलोचन शर्मा "अगर आज कोई हिंदी की काव्य भाषा का इतिहास लिखना चाहे तो उसे इसी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा, क्योंकि इस विषय पर छोटे मोटे निबंधों के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं" पृ० ४१।

चिंतक और भावकता के लिए बड़ी मौलिक, आस्पक यद्यपि कठिन चुनौती है। इस दृष्टि स प्रस्तुत अध्ययन म दोना स्तरा का विश्लेषण अवश्य ही एक महत्वाकांक्षी प्रयत्न है पर उसकी उपयोगिता और सार्थकता स्वय स्पष्ट है। यही कारण है कि सीमित रूप म ही सही यहा कोशिश यही होगी कि काव्य-भाषा का आधार और काव्यभाषा का सृजन प्रक्रिया दोना का एक साथ समझा जा सके। जार हिंदी काव्य भाषा का विस्तार-वविध्य ता जसा सकेत किया गया, इस प्रसग म एक अलग ही समस्या है। इसलिए विविध कविया का काव्य-भाषा के बारे म यदि उनके ब्यौरे प्रस्तुत अध्ययन म नहा मिलते ता इसे इस अध्ययन की अर्तनिहित सीमा ही माना जाना चाहिए।

अँग्रेज़ी काव्यभाषा के अध्ययन के सिलसिले म कुछ बड़ी महत्त्वपूर्ण टिप्पणिया यस्पसन न अपनी पुस्तक 'ग्राथ एंड स्ट्रक्चर आफ द इग्लिश लग्वज' (१९३८) म की हैं। यस्पसन यद्यपि उनकी मातभाषा अँग्रेज़ी नहा थी, अंग्रेज़ी के सबस मौलिक और तजस्वी भाषावज्ञानिक मान जात हैं। उनकी भाषादृष्टि बड़ी व्यापक थी इसका प्रमाण उनकी एक अन्य छोटी सी पुस्तक 'मनकाइड नेशन एड इनडिविजुएल' (१९४६) म भी मिलता है। परपरित भाषावैज्ञानिक चिंतन स अलग नाक्सपियरी प्रयोग और अँग्रेज़ी काव्यभाषा के संबंध म उनका विचार प्रक्रिया बड़ी मौलिक और उत्प्रेरक है। पर जसा पहल ही सकेत किया गया अँग्रेज़ी के ये महत्वपूर्ण अध्ययन हिंदी काव्यभाषा के विशिष्ट स्वरूप का समझन म उपयागी नहीं हो पात।

हिंदी म काव्यभाषा सबधी चिंतन कम है यद्यपि पिछले दिना इस विषय पर शोध काय अपक्षया अधिक हुआ है। पर यह शोध अधिकतर काव्यभाषा के आधार रूप—मॉडल्स के शब्दा म प्राइमरी लग्वज—का लेकर चलता है और हिंदी काव्यभाषा की समग्र दृष्टि का विकसित नहा कर पाता। इस विषय म आरंभिक पर महत्त्वपूर्ण चिंतन आचार्य रामचद्र शुक्ल न किया है इसका उल्लेख हो चुका है। 'बुद्धचरित' के अनुवाद (१९२८) की भूमिका म 'काव्यभाषा' शीर्षक उनका विस्तृत निबंध अन्य समाधानक निबंधा की तरह ही शब्द की सूक्ष्म और प्रयोग शक्ति का प्रमाणित करता है। पर इस निबंध की प्रकृति वर्णनात्मक अधिक विश्लेषणात्मक कम है। इसस अधिक सूक्ष्म दृष्टि शुक्ल जी द्वारा लिखित जायसी ग्रथावली (१९२४) की भूमिका म मिलता है जहा लेखक न जायसी की काव्यभाषा का बड़ा सवदनशील विश्लेषण किया है। इसके अतिरिक्त 'चिंतामणि' भाग १ (१९३०) म सकलित अपन प्रसिद्ध निबंध 'कविता क्या है' म एक स्वतंत्र शीर्षक 'कविता की भाषा' क

साहित्य (जनवरी अप्रैल १९६६) में संकलित 'कबीर की भाषा' (रमानाथ सहाय) 'सूर की भाषा (वजवीर प्रकाश गुप्त) 'रामचरितमानस की भाषा' (श्याम प्रकाश) तथा 'प्रद्युम्नचरित की भाषा' (कैलाशचंद्र अग्रवाल) शीर्षक निबंध।

बोली, लोकसाहित्य और मध्यकालीन काव्यभाषा

मध्यकालीन काव्यभाषा का अध्ययन करते समय कई बार इस भ्रम की संभावना भी होती है कि आज के संदर्भ में उसके कई रूप व्रज या अवधी भाषा न होकर बोली हैं। यह भ्रम यहां तक चलता है कि कुछ विद्वान 'रामचरितमानस' को लोकसाहित्य के निकट मान कर उसका विश्लेषण करते हैं।[1] ऐसी भूल इसलिए होती है कि बहुत बार अनुसंधानकर्त्ता बोली और भाषा तथा लोकसाहित्य और शिष्ट साहित्य के बीच के महत्वपूर्ण अंतर को नहीं समझ पाते। वे समझते हैं कि क्योंकि व्रज और अवधी आज बोलियाँ हैं अतः इन भाषा रूपों में लिखा गया साहित्य लोकसाहित्य ही होगा। इस दृष्टि से यहां बोली, लोकसाहित्य तथा शिष्ट साहित्य का अंतर और संबंध समझना उपयोगी होगा।

इस प्रसंग में दो प्रश्न हमारे सामने आते हैं। पहला प्रश्न यह है कि लोकसाहित्य बोलियों में ही क्यों रचा गया है शिष्ट भाषा में क्यों नहीं। और दूसरा प्रश्न है कि सूरदास की व्रजभाषा और व्रज के लोकगीतों की भाषा में आधारभूत अंतर क्या है? बोली में लोकसाहित्य बराबर लिखा गया है इस स्थिति से हम इतना अधिक परिचित हैं कि इस प्रसंग में हमारे मन में कोई अन्यथा शंका नहीं उठती। पर जब इस समस्या पर हम सचमुच विचार करने को उद्यत होते हैं तो स्थिति इतनी सीधी साफ नहीं दिखती।

डिसोसर ने वाणी (स्पीच) और भाषा (लैंग्वेज) में अंतर प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि वाणी एक व्यक्ति की होती है जब कि भाषा समाज की अर्जित और स्वीकृत संपत्ति होती है पर बिना इस वाणी के माध्यम के कोई भी तत्त्व भाषा में प्रविष्ट नहीं हो सकते। किसी व्यक्ति का आरंभ में चाहे जैसा अनगढ़ प्रयोग ही कालांतर में भाषा में स्वीकृत होता है। वाणी और भाषा के इस अंतर को मानने पर बोली (डायलेक्ट) की स्थिति इन दोनों सीमांतों के बीच में दिखाई देती है। बोली न तो वाणी की भांति नितांत व्यक्तिगत है और न भाषा की तरह व्यापक जटिल और नियमित। उसकी मूल प्रवृत्ति मौखिक

---

[1] द्र० सत्येंद्र 'मध्ययुगीन हिंदी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन,' पृ० ४३६।

गया प्राथमिक भाषा रूप का ब्यौरेवार विश्लेषण प्रधान है, कहीं-कहीं शास्त्री-अलंकार आदि की दृष्टि से भी विवेचन हुआ है। 'तुलसीदास की भाषा' (देवकीनंदन श्रीवास्तव -१९५७), 'सूर की भाषा' (प्रेमनारायण टंडन—१९५७) 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' (नामवर सिंह-१९५६) इस वर्ग की महत्वपूर्ण शोध कृतियाँ हैं। 'कबीर की भाषा' (माताबदल जायसवाल—१९६५) में लेखक ने आवृत्तियों की दृष्टि से अध्ययन किया है। सूरसागर शब्दावली (निर्मला सक्सेना—१९६२) के अध्ययन की प्रकृति कुछ भिन्न है। इस शोध प्रबंध में सूरसागर में प्रयुक्त १७०० संज्ञा शब्दों का सांस्कृतिक विवेचन है। सूरदास से पूर्व के अपेक्षयाकम परिचित ब्रजभाषा साहित्य की भाषा का विश्लेषण शिवप्रसाद सिंह ने प्रस्तुत किया है 'सूर पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' (१९५८)। इस शोध प्रबंध का उत्प्रेरक वाक्य आचार्य रामचंद्र शुक्ल का महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध पर्यवेक्षण है।[८] 'बिहारी सतसई का भाषावैज्ञानिक अध्ययन' (रामकुमारी मिश्र—१९७०) के अंतर्गत बिहारी की आधार भाषा का अध्ययन हुआ है। इन शोध-ग्रंथों से कुछ भिन्न प्रकार का और स्वतंत्र अध्ययन हरिहर निवास द्विवेदी का है— मध्यदेशीय भाषा (१९५५)। इस संक्षिप्त ग्रंथ में लेखक ने मध्यदेशीय भाषा की कुछ प्राचीन और बहुमूल्य सामग्री का अन्वेषण किया है। अलग-अलग कवियों और धाराओं की काव्यभाषा को केंद्र में रख कर चलने के कारण स्वभावतः पूरी हिंदी काव्यभाषा की परिकल्पना इन शोध अध्ययनों में से नहीं उभरती यद्यपि अपने ब्यौरों की दृष्टि से वे काफी संपूर्ण हैं। द्विवेदी ने 'मध्यदेशीय भाषा' में हिंदी क्षेत्र की व्यापक काव्यभाषा की चर्चा जरूर की है, पर उनका ध्यान पूरे तौर पर आधार भाषा के रूप पर है, सर्जनात्मक भाषा पर नहीं। डा० माताप्रसाद गुप्त ने भी भाषाविज्ञान विद्यापीठ, आगरा में कवियों तथा कृतियों की आधार भाषा पर कुछ अध्ययन कराए हैं—द्र० 'भारतीय

---

८ रामचंद्र शुक्ल "ध्यान देने की सबसे पहली बात यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहिली साहित्यिक कृति इन्हीं की मिलती है, जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य में डाल देती है। पहिली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य उक्तियाँ इनकी जूठी जान पड़ती हैं। यह बात हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वालों को उलझन में डालने वाली होगी। सूरसागर किसी पहले से चली आती हुई परंपरा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा जान पड़ता है, चलने वाली परंपरा का मूलरूप नहीं।"—त्रिवेणी, पृ० ७१।

बड़ी महत्वपूर्ण बात कही है। उनके अनुसार "लोग जितने अधिक पिछड़े हुए होंगे उतनी ही अधिक समता उनके व्यक्तियों में परस्पर होगी और उतना ही अधिक अंतर एक स्थान से दूसरे स्थान के बीच होगा। इसके विपरीत सभ्यता का स्तर जितना ऊँचा होगा व्यक्तियों में परस्पर अंतर उतना ही अधिक होगा पर विभिन्न समाजों के बीच समानता के लिए अधिक होगी। सभ्यता वैयक्तिक अंतरों को बढ़ाती है जब कि असभ्य लोग अपने वातावरण पर अधिक निर्भर होते हैं और परंपरागत प्रवृत्तियों में बँधे रहते हैं।" (पृ० ८३) सप्पीर के उपर्युक्त उद्धरण को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि आधुनिक काल में बोली और लोकसाहित्य का अध्ययन और किया हुआ संरक्षण तो होता है पर उनका विकास नहीं हो पाता। क्योंकि बोली और लोकसाहित्य दोनों ही व्यक्तिगत या सामाजिक वैशिष्ट्य की अपेक्षा समूहगत वैशिष्ट्य पर आधारित होते हैं जबकि वर्तमान सामाजिक संगठन में व्यक्तिगत वैशिष्ट्य पर तो बल है किन्तु आधुनिक औद्योगिक सभ्यता के अंतर्गत विभिन्न वर्गों की एकात्मकता पहले जैसी सुरक्षित नहीं रही और क्रमशः नष्ट हो रही है। व्यक्ति के व्यक्तित्व पर बल शिष्ट साहित्य को विकसित करता है सामूहिक या जातिगत एकता लोकसाहित्य को जन्म देती है। आज विभिन्न वर्गों समूहों और जातियों का संगठन ढीला पड़ रहा है और समाज की व्यापक एकरूपता बढ़ रही है (यद्यपि समाज के अंतर्गत व्यक्तित्वों का महत्व बढ़ गया है) मुख्यतः उद्योगों और नगरों की सभ्यता के कारण। इसीलिए अब लोकसाहित्य का सृजन रुक गया है। आधुनिक समाज का जटिल संगठन शिष्ट साहित्य के लिए उपयुक्त है लोकसाहित्य के लिए नहीं। प्रायः सभी इतिहासों के मध्यकाल लोकसाहित्य के स्वर्ण युग कहे जा सकते हैं जहाँ आरंभिक व्यक्ति की वैयक्तिकता नहीं है और न आधुनिक समाज की जटिलता है वरन् जनकि संगठन मुख्यतः वर्गों और समूहों में है जहाँ व्यक्तिगत विभेद कम हैं पूरे वर्ग की संवेदनात्मक एकता प्रधान है जो लोकसाहित्य के सृजन की विशिष्ट भावभूमि है क्योंकि लोकसाहित्य मूलतः किसी वर्ग या जाति की सामूहिक अभिव्यक्ति है।

बोली और लोकसाहित्य के अंतर संबंध का यह एक पक्ष हुआ सामाजिक संगठन में विकास की दृष्टि से। दूसरा पक्ष भाषा की प्रयोग विधि से संबद्ध है और कलात्मक संगठन के विचार से अधिक गहरा है। सामान्य ढंग से भाषा प्रयोग के दो स्तर हो सकते हैं—साधारण दैनंदिन व्यवहार में और साहित्य के विशिष्ट क्षेत्र में। इन दोनों स्तरों के बीच का मुख्य अंतर भाषा की सृजनात्मक शक्ति है। साधारण व्यवहार में भाषा के सर्वस्वीकृत और समूचे अर्थ को ग्रहण

होन के नाते काफी उन्मुक्त है। वह बहुतर बधना और अनुशासना को स्वीकार नहीं करती, और वक्ताओं की अनेक विचित्रताओं को समय-समय पर प्रश्रय देती चलती है। इस प्रकार वाणी और भाषा के बीच में बोली सेतु का काय करती है।

दूसरी ओर लोकसाहित्य पर विचार करें। लोकसाहित्य अपनी प्रकृति से एक सामूहिक अभिव्यक्ति है। वह न तो एक व्यक्ति की रचना है और न दूसरी ओर किसी बडे और व्यापक समाज में उसकी सृष्टि हो ही सकती है। व्यक्ति और समाज के बीच छोटे-छोटे समूह जातियाँ और वर्ग लोकसाहित्य की रचना और गायन में प्रवृत्त होते हैं। समूह या बिरादरी में समाज की अपेक्षा बाह्य बंधन कम होते हैं पर आंतरिक संवेदना कहीं अधिक गहरी होती है। समाज का संगठन समूह की तुलना में बहुत जटिल होगा और संवेदनात्मक स्तर पर उसकी एकता अपेक्षया कम होगी। इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज के दो सीमांतों के बीच में अवस्थित समूह या बिरादरी ही लोकसाहित्य के सर्जन और संचरण को आवश्यक भाव-भूमि प्रदान करती है। बोली और लोकसाहित्य का रचना संघटन इसी समूह में होता है जो व्यक्ति की अपनी आरंभिक वैयक्तिकता और समाज की जटिलता के बीच की विकास स्थिति है। मूलत अपनी मौखिक प्रकृति में बोली और लोकसाहित्य इस अपेक्षया उन्मुक्त वातावरण में एक दूसरे के उपयुक्त सिद्ध होते हैं।

यह एक प्रधान कारण है जिससे कि आधुनिक काल में बोलियाँ और लोकसाहित्य दोनों की स्थिति ह्रासशील है। वर्तमान सामाजिक संगठन मध्यकालीन समूहों वर्गों और जातियों से आगे बढ़कर औद्योगिक युग के अनुकूल बडे और व्यापक समाजों की स्थिति में आ गया है ऐसा समाज जिसका संगठन अत्यंत जटिल है और जिसके अंतर्गत व्यक्तियों के परस्पर संवेदनात्मक सूत्र वस्तुत क्षीण होते हैं। बडी भाषाएँ एकरूपता के प्रयास में (आवागमन और संपर्क के अधिक त्वरित माध्यमों के द्वारा) छोटी बोलियों को समाप्त कर रही हैं। इसी प्रकार से आधुनिक व्यापक समाज में शिष्ट साहित्य का सर्जन होता है लोकसाहित्य का नहीं क्योंकि लोकसाहित्य के लिए आवश्यक भावात्मक एकता जिन समूहों में रहती है उनकी पहले जैसी एकांतिक स्थिति अब संभव नहीं। आज छोटे-छोटे समूह नष्ट होकर व्यापक समाज में अंतर्भुक्त हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त मुद्रण के चतुर्मुखी प्रसार ने भी बोली और लोकसाहित्य की मौखिक प्रकृति को आघात पहुँचाया है।

अपनी पुस्तक मनकाइंड, नेशन एंड इंडिविजुअल में यस्पसन ने एक

की भाषा भी आती है पर भाषा के रूप में पड़ने से उसका आरम्भिक हिं(दी)
भी कम हुई होगी।

भाषा और पुराणकथा

भाषा और विशेषतः काव्यभाषा के प्रसंग में पश्चिमी समीक्षा में पुराणकथा अथवा मिथक का विचार प्रायः अब बहुत है। इसी कारण हिंदी समीक्षा में भी पुराणकथा की दृष्टि से काव्य और काव्यभाषा की व्याख्या होने लगी है। पर भाषा के मूल स्रोत में पुराणकथा की क्या स्थिति है, इस ओर हमारे भाषाविदों और समीक्षकों का ध्यान प्रायः नहीं गया। इस दृष्टि से यहाँ कुछ विचार अपेक्षित है।

पुराणकथा का या मिथक का भाषा के भाषा के रूप में पर्यवसित हो जाना है, पश्चिम के आधुनिक क्षेत्रों में यह अब एक प्रायः स्वीकृत सिद्धांत है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने इस क्षेत्र में कार्य करके नानाविध साक्ष्य जुटाए हैं। पर वास्तविकता यह है कि हिंदी भाषा का गठन (और शायद दूसरी भारतीय भाषाओं का भी) भाषा और पुराणकथा की उस निकटता को सिद्ध करता नहीं दिखाई देता जिसे अनेक भाषाशास्त्रियों, साहित्य चिंतकों और नृतत्त्वशास्त्रियों ने आरम्भ में भारोपीय भाषाओं और फिर मुख्यतः पाश्चात्य वाङ्मय के अध्ययन के आधार पर बलपूर्वक प्रतिपादित किया है। भारतीय साहित्य और संस्कृति में बहुत से पौराणिक संदर्भ मिलते हैं पर हमारी भाषा के विकास में पुराणकथाओं का योग प्रायः नगण्य है।

पश्चिम के विद्वानों में संभवतः मैक्समूलर का प्रथम महत्वपूर्ण नाम है जिन्होंने आधुनिक ज्ञान विज्ञान के संदर्भ में भाषा और पुराणकथा का संबंध आंतरिक संघटन के स्तर पर स्थापित किया है। उनका निष्कर्ष था : पुराणकथाएँ भाषा की अपरिहार्य, स्वाभाविक और अंतर्निहित आवश्यकता हैं, यदि हम भाषा में विचार के बाह्य रूप और अभिव्यक्ति को मानते हैं। तब से कई भाषा के विचारकों ने इस मत को अपने अपने ढंग से पुरस्कृत किया है। अर्नेस्ट कैसिरर (लैंग्वेज एंड मिथ) सूज़न के० लैंगर (फिलासफी इन ए न्यू की) तथा ओवेन बारफील्ड (हिस्ट्री इन इंग्लिश वर्ड्स) के नाम उदाहरण के तौर पर लिए जा सकते हैं। बारफील्ड ने अंग्रेज़ी के कुछ सामान्य प्रचलित शब्दों को लेकर यह दिखाया है कि किस प्रकार उनके स्रोत में पुराणकथाएँ हैं। उनके अनुसार सिरील का उद्गम अन्न और फूलों की देवी सिरस है, पनिक का संबंध ग्रीक देवता पन से है और इसी प्रकार फेट के मूल में रोमनों की देवी फेटा है।

किया जाता है, जबकि साहित्य म शब्द की किसी वैकल्पिक और विशिष्ट छाया की सजना होती है।

लोकसाहित्य म भाषा की यह सजनात्मक शक्ति अपेक्षया कम विकसित रूप म होता है और शिष्ट-परिनिष्ठित भाषा की तुलना म बोली म सजनात्मक शक्ति कम होती है क्योंकि उसका व्यवहार उच्च बौद्धिक सांस्कृतिक क्षेत्रों मे कम होता है। वस्तुत शिष्ट और लोकसाहित्य का विभाजक अतर यह भाषा प्रयोग विधि है। शिष्ट साहित्य मे व्यक्तिगत रचनाकारों की प्रतिभा द्वारा भाषा की सजनात्मक शक्ति का अधिकतम प्रयोग किया जाता है, जबकि लोकसाहित्य मूलत साधारण भाषा को ही हल्की-सी सजनात्मक शक्ति के स्पश के साथ प्रयुक्त करता है। लोकसाहित्य का वास्तविक रस इसीलिए उसके सामूहिक गायन या पाठ मे होता है। बोली की उन्मुक्त प्रकृति को उसके सामान्य दनंदिन रूप म हल्की-सी सजनात्मक शक्ति के स्पश स लोक-गायक सरस बना देता है। इसस स्पष्ट है कि कोई भाषा रूप सदव बोली या भाषा की एक ही स्थिति मे बना रहे यह जरूरी नही है। ब्रजभाषा कई शताब्दियो तक लगातार काव्यभाषा बनी रहने के बाद अब बोली रूप म रह गई है और दूसरी ओर उत्तर मध्यकाल म बोली रूप म व्यवहृत खडीबोली अब समूचे हिंदी क्षेत्र की काव्यभाषा बन गई है। उनका नामकरण अब भी पुरानी स्थितियो का ही स्मरण दिलाता है, भले ही ब्रजभाषा अब बोली है, और खडीबोली अब भाषा ह। हिंदी प्रदेश या मध्यदेश म काव्यभाषा के बदलते हुए आधार रूप इस क्षेत्र की व्यापक रचनात्मक ऊर्जा और प्रयोग क्षमता का ही सकेत दते है।

इस तरह भाषा प्रयोग विधि की दृष्टि से बोली और लोकसाहित्य की प्रकृति एक दूसरे क अनुकूल है। बोली म सजनात्मक क्षमता कम होती है लोकसाहित्य म भाषा की हल्की सजनात्मक शक्ति स काम चलता है। सूरदास की ब्रजभाषा और लोकगीतो की ब्रजभाषा म इस सजनात्मक शक्ति की मात्रा का ही अतर है। और या मध्यकालीन काव्य आज की दृष्टि स बोलियो म नही लिखा गया वरन अत्यत विकसित काव्यभाषा म रचा गया ह। इसीलिए ब्रजभाषा म रचित सूरसागर शिष्ट साहित्य की रचना है और ब्रज क लोकगीत लोकसाहित्य हैं। भाषा म सजनात्मक शक्ति की कमी का बराबर संगीत के उपकरणो द्वारा पूरा करन का भी यत्न होता रहा है। इस दृष्टि स जो रचना अपने सप्रेषण क लिए जितना अधिक पाठ या गायन की अपेक्षा रखती है उस का स्वय अपना भाषिक रचनात्मक गठन उतना ही कमजोर होता है उदाहरणाथ लोकगीत फिल्मी गाने या कवि सम्मेलनी गीत। दूसरी ओर रामचरितमानस

जस शब्दों का पश्चिम तटस्थ भाव म प्रयोग करता ह पर हम 'अर्जुन या 'हनु मान का प्रयोग वस सामान्य ढग स नही कर सकत। इसीलिए 'ओडिसी अग्रजी म कठिन कार्यों की शृखला का पयाय बन गया है पर 'हनुमान हमारी भाषा म एक दवता विशष का वाचक है अजन एक वीर का नाम है। 'हनुमान या कृष्ण हमारे लिए धार्मिक आस्था क अग हैं फेथ हैं मिथ नही।

भाषा और पुराणकथा की निकटता प्रतिपादित करन वाले विचारको न भारतीय और पाश्चात्य पुराणकथाओ के इस मौलिक अतर को नही पहिचाना। पुराणकथाओ क अपने स्वरूप म साधारणत धार्मिक भावना का प्रवेश नही होता। पर भारतीय पुराणकथाएँ सबसे पहले और अत तक धार्मिक भावना से सपृक्त ह। यूरोप म बाइबिल विशेषत न्यू टेस्टामट' अधिकृत धम ग्रन्थ है और वहाँ की अधिकाश प्रचलित पुराणकथाओ का स्रोत ग्रीक या रामन जाति का वाङमय है। हमारे देश म ऐसा स्पष्ट अतर और विभाजन नही रहा। यहाँ की कथाएँ उस अथ म धमनिरपेक्ष हुई पुराणकथाएँ नही हैं वे हमारे धार्मिक जीवन क अनिवाय अग के रूप म रही है और अब भी है। यह स्थिति प्राय सभी पुराणो और रामायण तथा महाभारत की कथाओ का है। इस विशिष्ट परिस्थिति क कारण हमारे दश क कवि और अन्य भाषा प्रयोगकर्ता अपनी भाषा म इन पुराण कथाओ को उनक सदभ म खीचकर सामान्य शब्दो के रूप म नही उतार सक। महाभारत स लेकर नयी कविता तक के विस्तृत अतराल म चक्रव्यूह जस दो चार शब्द अपने पौराणिक परिवेश से अलग हो सके है। शेष पुराणकथाए कण अहल्या या अबरीष जसी या तो कथा हैं या चरित्र या बहुत हुआ तो सदभ पर सामान्य भाषा के अग रूप म व पयवसित नही हुइ।

हिन्दी के मध्यकालीन कवियो के लिए तो पुराणो के आख्यान अत्यन्त विश्व सनीय और पूज्य हैं। सूर या तुलसी के सदभ म राम-सीता कृष्ण और राधा हनुमान या कि चित्रकूट भी इन भक्त कवियो की आस्था क अनिवाय अग है। अत इस युग की काव्यभाषा म य पौराणिक कथानायक या चरित्र है या कुछ हल्क हान पर सदभ है पर पुराणकथा अथवा मिथ के रूप म इनक प्रयोग का प्रश्न ही नही उठता। सन्दभ (जस अहल्या वचन मात्र या गाडीव) भाषा का सरचना म अलग स चमकता है जबकि पुराणकथा इसम विलीन हो जाती है। हिन्दी का मध्यकालीन काव्यभाषा म इस दृष्टि स पौराणिक सन्दभ (एल्यूजन) बहुतेरे मिलेंग पर पुराणकथा यहाँ काव्यभाषा क स्वरूप म पयवसित नहा हुइ।

○

इस प्रकार के अन्य बहुत से उदाहरण प्रस्तुत करके उन्होंने अपनी मान्यता इन शब्दों में व्यक्त की है भाषा का जितना ही पिछला इतिहास देखा जाता है उतने ही इसके स्रोत काव्यात्मक और जीवंत दिखाई पडते हैं और अंतत यह पुराण-कथा के धुंधलके में अंतर्भुक्त होती जान पडती है।[1]

पर हिंदी शब्द समूह का विश्लेषण इस मत को पुष्ट नहीं करता। हिंदी की सामान्य शब्दावली में मिरील 'पनिक और फ्रेंट' के वजन पर पुराणकथाओं से विकसित शब्द बहुत ढूंढने से ही कुछ मुश्किल से मिल सकें। इस स्थिति के पीछे कई आधारभूत कारण देखे जा सकते हैं, जिनकी ओर अपना सिद्धांत प्रतिपादित करते समय नतत्वशास्त्रियों और भाषावैज्ञानिकों ने ध्यान नहीं दिया। पहली बात तो यह है कि यूरोप में विशेषत इंग्लैण्ड तथा अन्य टयूटौनिक जाति वाले देशों में प्रचलित ग्रीक और रोमन पुराणकथाएँ उन जातियों की अपनी नहीं है। पर हमारे देश की पुराणकथाएँ उसी जाति की है जो संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश हिंदी बोलती रही है। इस निकटता और आत्मीय संबंधिता के कारण हम पुराणकथाओं को संदर्भों के रूप में प्रयुक्त करते रहे पर अपनी भाषा में उन्हें सामान्यत पर्यवसित नहीं कर पाए। उनका व्यक्तिवाचक नाम होना हमारे लिए इतना प्रबल सत्य रहा और पुराणों के उन देवी देवताओं तथा उनसे संबद्ध वस्तुओं का अस्तित्व इतना विश्वस्त रहा कि उनके नामों को हम अपनी भाषा के सामान्य शब्द नहीं बना सके। यूरोप की अधिकांश वर्तमान जातियों का संबंध ग्रीक और रोमन पुराणकथाओं से ऐसे तादात्म्य का नहीं रहा।

एक सीमा तक इस दूरी के कारण ग्रीस और रोम की इन कथाओं को प्राय समस्त यूरोप अपनी पुराणकथाएं (माइथालाजी) मान सका। भारत में उसकी पुराणकथाओं का मूल धार्मिक रूप और महत्व बराबर अक्षुण्ण बना रहा। सामान्य भाषा में पर्यवसित होने के लिए जिस धर्म निरपेक्ष परिस्थिति की आवश्यकता थी, वह हमारे देश में विकसित नहीं हुई। पुराणकथाओं (माइथलाजी) के लिए आवश्यक यह है कि वे जातीय मानस से जुडी हों, और परवर्ती लोग उनमें धर्म-बुद्धि का पोषण न करें। पर हमारे देश की जनता में धार्मिक भावना की व्याप्ति के कारण ऐसी धर्म निरपेक्ष स्थिति संभव नहीं हुई। धार्मिक सम्मान की प्रबल भावना के कारण हम पौराणिक सन्दर्भों को भी सदैव एक आदर और विशिष्टता के भाव से प्रयोग करते हैं। सामान्य भाषा में सामान्य प्रकार से उनका प्रयोग हमारे संस्कारों के विरुद्ध है। 'जाडिमस' या 'फटम' या 'ग्रसज'

---

१० ओवेन बारफील्ड हिस्ट्री इन इंग्लिश वर्ड्स, पृ० ८३।

संस्कृति भी सपाय है। वह बड़ उदार सूत्रा स बंधा हुई है व्यापक होता हुई भी आन्तरिक रूप म सन्निष्ट है।

इस स्थिति क कारण पक्षधर राजनीतिज्ञा न ता लाभ उठाया हा है शिक्षिता और विद्वाना क बीच भी हिंदी क वास्तविक स्वरूप का लकर स्पष्ट धारणा प्राय नहा है या यदि धारणा ठाक भी है ता उसक लिए समुचित तर्कों का जानकारी नहा है। राजभाषा बनन क दौर म हिंदी क स्वरूप का जहां कुछ जाना न जान बूझकर विभ्रमित और लाञ्छित करन का यत्न किया वहां हिंदी क अपन चिन्तक और प्यार भी उसक स्वरूप का ठीक-ठाक बाध नहा कर सके। फल इसका यह हुआ कि कुछ लाग कवल आधुनिक खड़ी बाली हिंदी का हा हिंदी मानना चाहते हैं कुछ हिंदी प्रदेश का बालियां और हिंदी का तात्विक संबंध नहा समझ पात कुछ पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी का हिंदी मानत हैं और कुछ इनक अतिरिक्त बिहारी और राजस्थानी का भी हिंदी क अंतगत रखत हैं। इन कई प्रकार क विभ्रमों क बीच उर्दू क भाषिक रूप का लकर भी हमारी सही धारणा नहा बन पाती। और सबस राचक बात यह है कि उक्त सभी प्रकार की मान्यताओं क पीछे भावुक ढंग का आग्रह इतना अधिक है कि तर्क की प्राय उपेक्षा हो जाती है।

हिंदी का कवल आधुनिक खड़ी बाली हिंदी रूप तक सीमित करन वाले विचारक आधुनिक परिनिष्ठित हिंदी और हिंदी प्रदेश की बालियां अर्थात ब्रज अवधी भोजपुरी मथिली प्रभृति क बीच किसी गहरे संबंध-सूत्र का नहीं मानते। प्रधानत भाषावैज्ञानिक साक्ष्यों पर इस संबंध को लेकर उनकी दो आपत्तियां हैं व्युत्पत्ति की दृष्टि स हिंदी प्रदेश का पूर्वी बालियां—मथिली मगही भोजपुरी को य विद्वान हिंदी क पश्चिमी और परिनिष्ठित रूप स भिन्न मानते हैं। उनका तर्क है कि पश्चिमी हिंदी का बालियां शौरसेनी अपभ्रंश स व्युत्पन्न है जबकि बिहारी बालियों का संबंध मागधी अपभ्रंश स है (और यो कभी कभी कहा जाता है कि व्युत्पत्ति की दृष्टि स बिहारी बालियां—मथिली मगही भोजपुरी—पूर्व का अन्य मागधी भाषाओं अर्थात बंगला असमिया उड़िया के अधिक निकट है) पश्चिमी हिंदी और बिहारी बोलियों क बीच पूर्वी हिंदी का क्षेत्र है जिसकी तीन बोलियां अवधी बघेली छत्तीसगढ़ी अर्द्धमागधी अपभ्रंश स विकसित मानी गई है। इस तरह हिंदी प्रदेश का बालियां क ये तीनों वर्ग (अभी राजस्थानी-पहाड़ी की चर्चा छोड़ दें) व्युत्पत्ति की दृष्टि स अलग-अलग है इनमे भी पश्चिमी हिंदी के पूर्वज-अपभ्रंश शौरसेनी और बिहारी बालियों के पूर्वज रूप मागधी क बीच अंतर बहुत अधिक है।

हिंदी का स्वरूप

हिंदी भाषा का स्वरूप निर्धारित करने में अब तक कुछ कठिनाइयों और तर्क निष्कर्ष के क्रम में कुछ असंगतियों का अनुभव किया जाता रहा है खास तौर से इसलिए कि इस जटिल विषय की चर्चा कुछ पूर्वनिश्चित और सीमित आधारों पर ही अधिकतर हुई है। यहाँ हिंदी काव्यभाषा के मध्यकालीन रूप पर विचार करते समय यह आवश्यक हो जाता है कि हम हिंदी पद की व्याप्ति और उससे अभिहित भाषा रूप को ठीक-ठीक समझें। या इस बात का भी यहाँ उल्लेख जरूरी है कि स्वयं हिंदी के स्वरूप को समझने में काव्यभाषा का अध्ययन एक प्रमुख आधार सिद्ध होता है। प्रस्तुत विवेचन में हिंदी की स्थिति मध्यदेश के भाषिक और सांस्कृतिक संदर्भ में विश्लेषित होगी जो हिंदी भाषा का व्यापक रूप में मूल और जातीय क्षेत्र है।

हिंदू धर्म की भांति हिंदी भाषा का स्वरूप व्यापक और संश्लिष्ट है इसे हम आरम्भिक उपपत्ति के रूप में प्रस्तावित कर सकते हैं। जिस प्रकार हिंदू धर्म एक निश्चित संप्रदाय या धर्म-ग्रंथ पर आधारित न होकर एक व्यापक जीवन पद्धति है उसी प्रकार हिंदी भाषा कोई एक निश्चित भाषा रूप या बोली न होकर विविध बोलियों का व्यापक और संश्लिष्ट रूप है। इस बात को अशोक केलकर ने अपने ढंग से इस प्रकार कहा है— हिंदी-उर्दू मूलत अप्रादेशिक है अर्थात क्षेत्रीय तौर पर अनिर्दिष्ट है।[1]

किंतु अधिकतर विद्वान हिंदी भाषा के व्यापक पर संश्लिष्ट रूप को ठीक-ठीक ग्रहण नहीं कर सके हैं। विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं और संस्कृतियों के सुनिश्चित रूप के बीच में मध्यदेश जैसे विस्तृत क्षेत्र की भाषा होने के कारण हिंदी के रूप को समझने में भ्रम की संभावना है यह भी हमें मानना होगा। बंगला गुजराती, मराठी या तमिल, मलयाल्म जैसी सुस्पष्ट प्रादेशिक भाषा-संस्कृति मध्यदेश अथवा हिंदी प्रदेश की नहीं है। जैसे भारत देश और उसकी संस्कृति का स्वरूप संघीय या 'फेडरल' ढंग का है—जिसके अनुरूप हमारे मनीषियों ने राष्ट्रीय संविधान बनाया—उसी तरह मध्यदेश या हिंदी प्रदेश की भाषा-

---

1 स्टडीज इन हिंदी-उर्दू, पृ० १९।

दृष्टि म नागाओ का स्वरूप और सदप टाट-ठाट निर्धारित नही किया जा सकता। इस भाषाशास्त्रीय मान्य ग प्रसग म प्राय गलत निष्कर्षों की ओर ले जा सकते है। भाषा साहित्य और सस्कृति के परस्पर सम्बन्ध सूत्रा को समझने के लिए इस म ही क्षेत्र के प्रमाण अपेक्षित है जो इस सदर्भ म परपरित विशुद्ध भाषाविज्ञान से अलग एक नव मानविक भाषाशास्त्र की परिकल्पना को जन्म देते है। भाषाओ और बोलियो के स्वरूप विवेचन म व्युत्पत्ति व्याकरण और बोधगम्यता की आधारभूत भाषावैज्ञानिक कसौटियो के अतिरिक्त तीन मुख्य आधार और है जिन पर बराबर ध्यान रखा जाना चाहिए। ये तीन आधार हैं— जातीयता सास्कृतिक परिस्थिति और काव्यभाषा के। इन सभी साक्ष्यो और उनके अतर सबध को देखे बिना हम किसी भाषा के स्वरूप का सही विवेचन नही कर सकते। हिंदी के प्रसग म भाषावैज्ञानिक साक्ष्यो पर तो काफी विचार हो चुका है, यहाँ उनकी पृष्ठभूमि म अन्य आधारो की चर्चा यथासभव सपवत रूप म अभीष्ट होगी।

यहाँ इस बात का उल्लेख समीचीन होगा कि सास्कृतिक सदर्भों से विच्छिन्न एकेडमिक भाषावैज्ञानिक दृष्टि का प्रभाव हमारे भाषा सबधी अध्ययनो पर एक लबे समय तक रहा है। यद्यपि ग्रियसन को इस बात का श्रेय देना होगा कि अधिकतर व्याकरणिक साक्ष्यो पर अपने मत को आधृत करते हुए भी उन्होने जातीय या सास्कृतिक तत्वो को सर्वथा उपेक्षित नही किया। बँगला असमिया उड़िया के पारस्परिक सबध पर विचार करते हुए उन्होने भाषाविज्ञान से इतर साक्ष्यो को भी निर्णायक रूप मे स्वीकार किया है।[२] हिंदी का पर वे एक साथ ही उसके व्यापक रूप म भी स्वीकार करते है[३] और फिर बिहारी पूर्वी हिंदी

---

२ ग्रियसन "एक अन्य तथ्य भी इस भेदकरण को प्रभावित करता है। यह जातीयता है इसका एक बहुत सुदर उदाहरण असमिया भाषा है। आज लोग इसे एक स्वतत्र भाषा मानते हैं। किंतु यदि इसके व्याकरणिक रूपो एव शब्द समूह पर विचार किया जाय तो इस बात को स्वीकार करना कठिन होगा कि यह बँगला की एक बोली है इस प्रकार यहाँ हमे एक ऐसी भाषा का उदाहरण प्राप्त हो जाता है जिसमे पारस्परिक बोधगम्यता का अभाव तो नहीं है किंतु जिसमे जातीयता एव साहित्य की दृष्टि से अतर है।

—भारत का भाषा सर्वेक्षण (१ १), पृ० ४४

३ ग्रियसन "इस प्रकार यह कहा जाता है और सामान्य रूप से लोगो का विश्वास भी यही है कि गगा के समस्त काँठे म बगाल और पजाब के बीच,

व्युत्पत्ति के अतिरिक्त व्याकरणगत भिन्नता को लेकर भी विद्वानों के बीच हिंदी प्रदेश की बोलियों को असंबद्ध मानने की बात होती है। पश्चिमी हिंदी एक ओर, और पूर्वी हिंदी तथा बिहारी बोलियाँ दूसरी ओर—इनके बीच—ने परसर्ग का अंतर -ह और -ब भविष्य का अंतर, भूतकालिक क्रिया रूपों के गठन में अंतर आदि के साक्ष्य पर भाषावैज्ञानिक इन बोली-समूहों को अलग-अलग मानने के पक्ष में दिखाई देते हैं। और इस तरह व्युत्पत्ति, व्याकरण और बोध-गम्यता—इन तीनों ही प्रधान भाषावैज्ञानिक आधारों पर हिंदी प्रदेश की बोलियों में एकसूत्रता के तत्व को नकार दिया जाता है।

ग्रियर्सन ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के वर्गीकरण में हिंदी प्रदेश के बोली-समूहों को उनके द्वारा प्रस्तावित तीन अलग-अलग वर्गों में रखा गया है। राजस्थानी पश्चिमी हिंदी अंदर की शाखा में हैं, बिहारी बाहर की शाखा में है और पूर्वी हिंदी बीच की शाखा में। बीच की शाखा तो केवल पूर्वी हिंदी को लेकर है, क्योंकि उसमें और कोई भाषा रूप नहीं है। यहाँ स्मरणीय है कि राजस्थानी पहाड़ी, पश्चिमी हिंदी पूर्वी हिंदी, बिहारी सभी सामूहिक नाम हैं—इन नामों की विशिष्ट बोलियाँ नहीं हैं। कई दशकों पूर्व विशद साक्ष्यों और गहरी सूझ-बूझ के साथ ग्रियर्सन ने हिंदी प्रदेश की बोलियों के प्रसंग में उक्त मान्यताओं को स्थापित किया था, तब से लेकर अब तक बहुत से विचारक भाषावैज्ञानिक और राजनैतिक पक्षधर उन्हीं बातों को यद्यपि अलग-अलग उद्देश्यों से प्रायः बड़े ठिठके ढंग से दुहराते रहे हैं। कभी-कभी तो ग्रियर्सन पर यह आक्षेप भी किया जाता है कि उन्होंने अंग्रेजी साम्राज्यवादी हितों के अनुकूल हिंदी प्रदेश और समूचे भारत की भाषाओं के अनेक वर्ग करके राष्ट्रीय सांस्कृतिक एकता को खण्डित करना चाहा है। ऐसा आक्षेप सर्वथा अनुदार और संकीर्ण मनोवृत्ति तथा अशक्त भाव का द्योतक है। वस्तुतः ग्रियर्सन की नीयत में दोष देखने का कोई कारण नहीं है। भाषावैज्ञानिक या व्याकरणिक साम्यों के आधार पर जो निष्कर्ष निकलते थे, उन्हीं को ग्रियर्सन ने पूरी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया है। आवश्यकता इस बात की है कि ग्रियर्सन के साक्ष्यों के आधार पर जो निश्चय ही अब भी काफी प्रामाणिक और विश्वसनीय हैं भाषा संबंधी समस्याओं को लेकर व्यापक और भारतीय दृष्टि विकसित की जाए। ग्रियर्सन अपनी सारी सहानुभूति और समय के साथ यहाँ के लिए विदेशी थे। उन्होंने व्याकरण के अपेक्षया स्थूल और वस्तुपरक साक्ष्यों को तो ठीक-ठीक समझा पर यहाँ की सांस्कृतिक और जातीय परंपराओं को सही रूप में देख पाना उनके लिए बहुत संभव न था।

वस्तुतः अब यह अनुभव किया जाना चाहिए कि विशुद्ध भाषावैज्ञानिक

उसी तरह स जो बँगला या मराठी भाषा भाषी एक जाति क लाग हैं—यह दावा करना ठीक नही होगा। सही बात यह है कि हिंदी भाषा भाषी जाति कई उप जातियो का एक समुदाय है। इसलिए बँगला या मराठी भाषा भाषी जाति जसी आतरिक एकता यहाँ नहीं मिल सकती। इस प्रसग म धीरेंद्र वर्मा ने पहली बार विशेष रूप स ध्यान आकृष्ट किया है कि मध्यदेश अथवा हिंदी प्रदेश का विस्तृत क्षेत्र बहुत प्राचीन काल स ही अनेक जनपदों म विभाजित था। य जनपद अपन स्वरूप म काफी हद तक स्वतंत्र थ और इनका भाषा-संस्कृति का एक विकसित रूप था। इस तरह मध्यदेश निवासियों का एक जाति अपन अलग अलग जनपदों की विशिष्टताओ म अनुरंजित रही। इन जनपदीय बोलियों और संस्कृतियों का रूप कालक्रम म और विकसित होता गया। परन्तु आज मध्यदेशीय या हिंदी भाषा भाषी जाति अपन म एक सुसबद्ध जाति होन क बजाय अपन अनेक जनपदीय रूपो म अधिक स्पष्टता क साथ परिलक्षित होती है। बगला गुजराती मराठी उडिया आध्र प्रभृति प्रादेशिक भाषा-संस्कृतियो क बीच म वह अपन विभिन्न जनपदीय रूपो स निर्मित एक समन्विष्ट और व्यापक भाषा-संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है। हिंदी की विशिष्टता इसी बात म है कि वह कई जनपदीय संस्कृतियो का एक साथ सवहन करती है जब कि देश की प्राय अन्य सभी भाषाएँ अपनी प्रादेशिक प्रकृति के अनुरूप किसी एक सुस्पष्ट पर सीमित क्षेत्र क जातीय और सास्कृतिक सघटन स सबद्ध हैं। इसका एक व्यावहारिक प्रमाण यह है कि हर प्रात म प्रातीयता की भावना उग्र या हठी रूप म मिलती है जबकि हिंदी प्रदेश इस प्रातीयता की भावना से सदव मुक्त रहा है।

संस्कृति की दृष्टि स भी हिंदी प्रदेश म एक मान्य और स्वीकृत संस्कृति का रूप उतना नही रहा जितना कि वह अलग-अलग जनपदो और विविध धार्मिक चेतनाओ क सामजस्य को विकसित करता रहा। कुरु पाचाल और काशी मगध की जीवन व्यवस्थाओ के बीच प्रायमिकताओ के अतर बराबर बन रहे। इसी प्रकार वष्णव शव बौद्ध और जन इन सभी धार्मिक चेतनाओ ने मध्यदेश की संस्कृति मे परिवर्तन उपस्थित किए ह अलग-अलग कालो मे ही नही दैशिक भिन्नता क साथ एक ही काल म भी। और इन सभी अतरो परिवर्तनो तथा सघातो को मध्यदेश की संस्कृति प्रतिफलित करती ह। बगाल गुजरात महाराष्ट्र क अपने प्रादेशिक और जातीय उत्सव-त्यौहार है। हिंदी भाषा भाषी जनता या तो दशहरा दीपावली और कृष्ण जन्माष्टमी जस राष्ट्रीय त्यौहार मनाती है या

७ धीरेंद्र वर्मा 'विचारधारा' (१९४४) मे सकलित निबध।

पश्चिमी हिंदी को अलग-अलग भाषाएँ भी माना है।' इस संबंध में अपने ही विचारों के तात्विक अंतर्विरोध का वे शमन नहीं कर सके। और यह अंतर्विरोध परवर्ती भाषाविज्ञान में बना रहा।

सुनीतिकुमार चटर्जी ने भाषा संबंधी चिंतन में व्याकरण के महत्व को और बढ़ाया। उनका यशस्वी ग्रंथ 'आरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ द बंगाली लैंग्वेज' (१९२६) जो धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार 'आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के इतिहास का विश्वकोष'[५] है प्रमुखतः व्याकरणिक विश्लेषण पर आधृत है। वो अपने व्याख्यान-ग्रंथ 'भारतीय आर्यभाषा और हिंदी' (१९४१ हिंदी १९५८) में उन्होंने सांस्कृतिक ज्ञातीय आधारों का भी विस्तार से विश्लेषण किया है पर 'एकेडमिक' कार्यों में वे व्याकरण को ही केन्द्र में रखते हैं। फिर धीरेन्द्र वर्मा, जिन्होंने हिंदी का जातीय-सांस्कृतिक परंपरा को मध्यदेश के भाषिक-साहित्यिक संदर्भ में बहुत पहले अन्वेषित किया[६] अपने विषय के प्रवर्तक ग्रंथ 'हिंदी भाषा का इतिहास' (१९३३) में परंपरित भाषाविज्ञान के तत्त्वों का ही विवेचन का आधार बनाते हैं। हिंदी भाषा के संबंध में इस प्रकार जातीय और 'एकेडमिक' पक्षों का द्वंद्व बराबर चलता रहा है, और अधिकतर महत्व 'एकेडमिक' पक्ष को ही मिला है। पर व्याकरणिक दृष्टि से बंगला जैसी एकरूपी भाषा का विवेचन किसी सीमा तक संभव था, हिंदी जैसी बहुमुखी भाषा का इस एकपक्षीय विवेचन में ठीक ठाक समझा नहीं जा सकता।

हिंदी प्रदेश का वासियों बोलने वाले सभी व्यक्ति एक जाति के अंग हैं

इसकी अनेक स्थानीय बोलियाँ सहित, केवल एकमात्र प्रचलित भाषा हिंदी ही है। एक दृष्टि में यह ठीक है, और इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।" भारत का भाषा सर्वेक्षण पृ० ४२।

४ ग्रियर्सन "भाषा विज्ञान की दृष्टि से इन सभी बोलियों को एक भाषा विशेष की बोली मानना वैसा ही असंगत है जैसा जर्मन को अंग्रेजी की बोली मानना। यही कारण है कि सर्वेक्षण में इन बोलियों को व्याकरणीय गठन के अनुसार विभिन्न समूहों में वर्गीकृत किया गया है और प्रत्येक को भाषा के रूप में स्वीकार किया गया है। ये हैं—बिहारी, पूर्वी हिंदी तथा पश्चिमी हिंदी।" वही, पृ० ४३।

५ धीरेन्द्र वर्मा हिंदी भाषा का इतिहास, पृ० १२।

६ द्र० 'हिंदी अनुशीलन', अंक १ ४ में प्रकाशित लेख 'मध्यदेश की साहित्यिक भाषा'।

फिर जनपदीय स्तर पर त्योहार-उत्सवो का आयोजन करती है। बगाली की दुर्गापूजा या केरल के ओणम जसा सवत प्रादेशिक त्योहार उसके पास नही है। इस तरह हिंदी प्रदेश की सस्कृति हिंदू सम्यता तथा भारतीय सस्कृति के समन्वित और सपक्त रूप का वास्तविक प्रतिनिधित्व करती है।

भाषाओ और बोलियो क स्वरूप विवेचन म तीसरा मुख्य आधार हमन काव्यभाषा का माना है। समूचे हिंदी प्रदेश की भाषिक एकता का वस्तुत यह एक बडा उजागर साक्ष्य है। कोई भी भाषा काव्यभाषा तभी स्वीकृत होती है जब उस आधार भाषा के अपन क्षेत्र के बाहर के लोग भी उसम काव्य रचना करने लगे। मध्यकाल म ब्रजभाषा की इस स्थिति को परिलक्षित करके भिखारी-दास न कहा था—ब्रजभाषा हतु ब्रजवास ही न अनुमानो। इस रूप म समूचे मध्यदेश की काव्यभाषा मध्यकाल के एकदम आरभ स लेकर अब तक अलग अलग कालो म बदलत रहने पर भी क्षेत्रीय दष्टि से एक रही है। राजस्थान, उत्तर प्रदेश बिहार और मध्यप्रदेश कह जाने वाले आधुनिक राज्य समग्र रूप से एक ही काव्य साहित्य का अपना जातीय साहित्य मानत रहे हैं। आदिकाल और मध्यकाल के चदबरदाइ कबीर, जायसी तुलसी मीरा फिर केशव, देव, बिहारी और भूषण तथा आधुनिक काल म चद्रधर शर्मा गुलेरी प्रेमचद जयशकर प्रसाद निराला, मथिलीशरण गुप्त, सुमित्रानदन पत माखनलाल चतुर्वेदी और जनेद्रकुमार समूचे हिंदी प्रदेश के लिए समान रूप स आस्वाद्य है। ये सभी लेखक मध्यदेश क अलग अलग जनपदो के निवासी होकर अपनी अपनी जनपदीय सस्कृतियो का सवहन करत हुए अपने विशिष्ट कालो म समान काव्यभाषा को अपना कर हिंदी भाषा और साहित्य को समद्ध करत रह हैं। यही नही आधुनिक काल म तो अय भाषा क्षेत्रो स सबद्ध रचनाकारो न भी हिंदी काव्यभाषा के स्वरूप निमाण म गुणात्मक योग दिया है। आधुनिक कविता के दो नीपस्थ नाम अज्ञेय और मुक्तिबोध क्रमश पजाबी तथा मराठी भाषा-क्षेत्रो स आए हैं, यद्यपि अब ऐसा स्मरण करना और कहना भी अयाय लगता ह क्योकि अज्ञेय और मुक्तिबोध स अधिक आज हिंदी का कौन रचनाकार है। इस सपूर्ण प्रक्रिया से हिंदी काव्यभाषा की मौलिक सश्लिष्ट प्रकृति पर प्रकाश पडता है जिसम हिंदी प्रदेश क विभिन्न जनपदो और अय प्रदेशो के लेखको की भी रचनात्मक साझेदारी रही है। इनका सम्मिलित कृतित्व ही हिंदी साहित्य का इतिहास है। जिस तरह ब्रजभाषा मध्यकाल म सारे मध्यदेश का व्यापक काव्यभाषा का आधार रही वसी ही स्थिति वतमान काल म खडीबोली की है।

किसी भी काव्यभाषा की सरचना म समय के साथ परिवत्तन होना एक

काव्यभाषा की अभिव्यक्ति सामर्थ्य सीमित जरूर हो गई है। हिंदी काव्य में भी अभिव्यक्ति की सरलता और सादगी को प्रश्रय मिला है, पर सूक्ति-काव्य के सीमित क्षेत्र में ही। रहीम या कभी कभी बिहारी की सूक्तियाँ बड़ी मर्मस्पर्शी मानी जाती हैं, पर इतने पर भी सूक्ति-काव्य को काव्य के मुख्य क्षेत्र से बाहर रखा गया है।

हिंदी और उर्दू की काव्यभाषा में एक सबद्ध अंतर और है। एक साथ ही बाज़ार और दरबार की भाषा बने रहने के कारण उर्दू की काव्यभाषा बोलचाल की भाषा से दूर नहीं हुई। उर्दू शायर शेर लिखते नहीं कहते हैं। फलतः उर्दू काव्यभाषा का मूल तत्त्व मुहाविरे में जितना है उतना बिंब में नहीं। पर सामान्यतः काव्यभाषा की व्यंजना क्षमता दूर तक प्रतीकों और बिंबों के आश्रित रहती है। लक्षणा पर आधारित मुहाविरा ('बात का उठना बनना, चलना बिगड़ना सभलना आदि) मूलतः बोलचाल की भाषा का गुण है। इस संदर्भ में उर्दू की स्थिति प्रायः अन्य सभी विकसित काव्यभाषाओं से अलग है। हिंदी तथा अन्य काव्यभाषाओं में संज्ञा अथवा नामवाची शब्दावली का अधिक महत्त्व होता है, क्योंकि ऐसे शब्द एक तो सांस्कृतिक संदर्भों से जुड़े रहते हैं, और दूसरे कविता की रचना प्रक्रिया में प्रतीक बिंब आदि का विधान इस नामवाची शब्दावली के ही आधार पर होता है। पर उर्दू में सहायक क्रिया आदि के साथ बनने वाले मुहाविरे का विशिष्ट महत्त्व है। वहाँ अरबी फ़ारसी की बहुत-सी तत्सम संज्ञाएँ तो बहुत बार समझी भी नहीं जा सकतीं। इसलिए कविता की रचना प्रक्रिया प्रायः बोलचाल के मुहाविरे पर आश्रित होती है जो उर्दू का वास्तविक रूप है। उदाहरण के तौर पर ग़ालिब के प्रसिद्ध शेर की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

न था कुछ, तो ख़ुदा था, कुछ न होता, तो ख़ुदा होता
डुबोया मुझको होने ने, न होता मैं तो क्या होता

यहाँ पूरा काव्य अनुभव 'होना' मुहाविरा के माध्यम से संप्रेषित हो रहा है। साथ में एक अन्य मुहाविरा 'डुबोया' सहायक स्थिति में है। फिर 'होना' तथा 'डुबोया' का अंतर्विरोध व्यंजना को और तीव्र करता है। पर बोलचाल का मुहाविरा बहुत जानदार होने पर भी सारी बात को एकबारगी कह कर ख़त्म कर देता है। बिंब से जो द्वंद्वात्मक तथा गतिशील अर्थ प्रक्रिया संभव होती है वह मुहाविरे के माध्यम में नहीं चल पाती। बहुत कुछ इसीलिए उर्दू की भाषिक संरचना मुक्तक काव्य के अनुकूल है लंबी कविता या प्रबंध की तारतम्य उसमें प्रभावशाली रूप में विकसित नहीं हो पाता। उत्तर मध्यकालीन दरबारी वाता

प्रदशन करन के कारण हिंदी साहित्य का दष्टिकोण विस्तृत है इसम कोई सदेह नही।'[९]

हिंदी और हिंदी प्रदेश की बोलियों का विवचन करते समय उर्दू की स्थिति पर विचार किए बिना कोइ सम्यक् दष्टि विकसित नही हो सकती। उर्दू को लेकर भी हमारे चिंतन म कई प्रकार के दुराव और विभ्रम हैं, राजनतिक पक्षधरता के प्रभाव हैं। कभी उसे साम्प्रदायिक भाषा कहा जाता है, कभी सास्कृतिक भाषा-रूप जमी अस्पष्ट सना दी जाती है, और फिर लगभग नारे के रूप म यह दुहरा दिया जाता है कि उर्दू हिंदी की एक शैली है। वास्तविक स्थिति यह है कि अपन सामान्य भाषिक और बोलचाल के रूप म उर्दू हिंदी से अलग नही है। वस्तुत ब्रज अवधी या भोजपुरी, मालवी की तुलना म उर्दू आधुनिक खडी बोली हिन्दी के कहा अधिक निकट है उच्चारण और व्याकरण दोनो ही दृष्टियो स। पर बात इतन पर ही समाप्त नही हो जाती। बोलचाल क रूप म हिंदी और उर्दू एक होन पर भी काव्यभाषा के स्तर पर उनक रूप अलग हो जात हैं।

उर्दू काव्यभाषा की विशिष्टता इस बात म है कि सप्रेषण के लिए विशेषत ग़ज़ल क सदभ म वह भाषा को सीधे-साद रूप म प्रयुक्त करती है।[१०] इस सदभ म उसकी स्थिति बहुत कुछ अद्वितीय ह। प्राय सभी विकसित काव्यभाषाएँ बिंब अथवा भावचित्रो का प्रयोग करती हुई व्यजना के माध्यम स सप्रेषण करती हैं। उर्दू भाषा म लाक्षणिक प्रयोगो की बहुलता तो मिलती ह पर उर्दू म लक्षणा से बोलचाल की भाषा क तवर म मुहाविरा बनता है बिंब नही। इसीलिए उर्दू कविता म बाकपन नही 'साफगोइ' को काव्यभाषा का मिजाज माना जाता है। इस 'साफगोइ' के कारण उर्दू कविता का आस्वादन समाज के ऊँचे-नीचे विभिन्न स्तरो पर सभव रहा है। उसकी लोकप्रियता असदिग्ध रही है पर इसस उर्दू

---

९ हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प० ३३।

१० तुलनाय रघुपतिसहाय 'फिराक' का मत—"सुगमता और सरलता के साथ पेचीदा से पेचीदा बातें नाजुक से नाजुक खयाल कहे गए हैं।'—उर्दू कविता पर बातचीत, पृ० ११५।

अथवा, मीर के सबध म एहतिशाम हुसन का मत—"सीधी-सादी बोल चाल की भाषा मे इतना रस और इतनी मिठास, इतना विष और इतना कड़ुवापन, हार्दिक भावनाओ का इतना कोमल चित्रण और भावनाओ का इतना तूफानी जोश काव्य रचना का एक चमत्कार जान पडता है।" (उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प० ७९)।

आदि क्षेत्रों की परिनिष्ठित भाषा के रूप में आधुनिक काल के आरंभ से ही खड़ी बोली हिंदी समूचे वर्तमान मध्यदेश (अर्थात् राजस्थान, हरियाणा, उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश) में स्वीकृत है। इस दृष्टि से 'हिंदी' पद खड़ीबोली, ब्रज, बुंदेली, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, कुमाउँनी प्रभृति हिंदी प्रदेश की विभिन्न बोलियों का सामूहिक नाम है, उर्दू बोलचाल के रूप में खड़ीबोली हिंदी से भिन्न नहीं, काव्यभाषा के स्तर पर अलग पड़ जाती है। आज परिनिष्ठित हिंदी भाषा खड़ीबोली के आधार पर विकसित है, इसलिए कुछ अधिक अर्थ में खड़ीबोली हिंदी कही जा सकती है, पर व्यापक रूप में मध्यदेश की बोलियों का सामूहिक नाम और संश्लिष्ट रूप ही हिंदी है। पर यह स्मरणीय है कि ये सभी बोलियाँ हिंदी की बोलियाँ नहीं, हिंदी प्रदेश की बोलियाँ हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आधुनिक काल में भारत संघ की जिस समन्वित संस्कृति को अभिव्यक्त करने का दायित्व संविधान ने हिंदी को सौंपा है उसे वह एक सीमित क्षेत्र में ही सही, अपनी सहज प्रकृति और भौगोलिक तथा परंपरागत केंद्रीय स्थिति के कारण पहले से ही पूरा करती आ रही है। हिंदी तथा मध्यदेश के अभाव में देश की स्थिति का एक दुखद नमूना पाकिस्तान (१९७२ के पूर्व) के रूप में देखा जा सकता है जिसके दो हिस्सों के बीच कोई भावात्मक या सांस्कृतिक संबंध नहीं रहा। यह ठीक ही है कि ग्रियर्सन पश्चिमी हिंदी को हिंदी ही नहीं सारी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के केंद्र में मानते हैं। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के वर्गीकरण पर विचार करते हुए वे कहते हैं "जब उन्हें भारतीय आर्य भाषाओं को किसी क्रम में रखना होगा तो सर्वप्रथम मध्यदेश की भाषा पश्चिमी हिंदी को केन्द्र में रखना पड़ेगा।"[११] अपनी इस केंद्रीय स्थिति में हिंदी आंतरिक स्तर पर विविध जनपदीय बोलियों का संश्लिष्ट रूप है और बाह्य स्तर पर उसने विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं-संस्कृतियों को परस्पर जोड़ा है, और उनके बीच वह साहित्यिक आदान प्रदान का माध्यम रही है। हिंदी की इस केंद्रीय प्रकृति को समझ कर ही हिंदी काव्यभाषा के वैविध्यपूर्ण, पर संश्लिष्ट रूप का विवेचन संभव है।

●

---

११ भारत का भाषा सर्वेक्षण (१ १), पृ० ३२२।

वरण ता मुक्तक रचना का एक स्थूल कारण है, वस्तुत उदू काव्यभापा की प्रकृति स्वय उस मुक्तक रूप म ही अधिक अच्छी तरह ढाल पाती है। अथ की द्वद्वात्मक प्रक्रिया के अभाव म एक शेर का सबध अगले शेर से स्थूल विपय-वस्तु के स्तर पर भले हो, भाषिक स्तर पर नही होता। प्रत्यक शेर का काव्य-अनुभव अपन म अलग सपन्न होता है। उदू का सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रभावशाली काव्य-रूप गजल एक विपय पर कहे गए शेरो का सकल्न है, एक पूरी भाषिक सरचना नही।

तो उदू जो बोलचाल के स्तर पर आधुनिक परिनिष्ठित हिंदी के सबसे निकट है, काव्यभाषा के स्तर पर साफगोई और मुहाविरे स परिचालित होन के कारण हिंदी की सश्लिष्ट और द्वन्द्वात्मक अथ प्रक्रिया स दूर पड जाता है। यही कारण है जिससे व्युत्पत्ति और व्याकरणगत भिन्नता के होन पर भी खडीबोली ब्रज अवधी, भोजपुरी और मथिली हिंदी हैं और विद्यापति, कबीर, जायसी सूर,तुलसी, भारतेंदु निराला और अनेक एक ही विकसनशील काव्य भाषा के विविध रूपो का प्रयोग करते हुए हिंदी के कवि हैं जब कि मीर और ग़ालिब आधुनिक परिनिष्ठित हिंदी की दृष्टि से अधिक बोधगम्य भाषा का प्रयोग करने क बावजूद हिंदी के कवि नही कहे जा सकत। ग़ालिब का ऊपर उद्धत शेर शब्दावली की दृष्टि से पूरे तौर पर हिंदी म होन के बावजूद हिंदी कविता का उदाहरण नही माना जाता। व्युत्पत्ति व्याकरण और बोधगम्यता के तत्त्व भाषिक दृष्टि से उदू को हिंदी के निकट सिद्ध करत हैं। जातीयता के आधार पर भी उदू को अलग नही माना जा सकता। पर किसी सीमा तक सास्कृतिक पष्ठभूमि के कारण, और मूलत काव्यभाषा के स्तर पर उदू की स्थिति हिंदी से अलग हो जाती है।

अपन निष्कर्षों को समेटते हुए हम कह सकत है कि मध्यदेश अथवा हिंदी प्रदेश की भाषिक एकता विशुद्ध भाषावज्ञानिक दृष्टि से व्युत्पत्ति व्याकरण और बोधगम्यता के आधार-मात्र पर नही समझी जा सकती। व्याकरण को प्रयुक्त और परिवर्तित करनेवाले जीवत मानवीय तत्त्वो का ध्यान म रख कर एक सपक्त दृष्टि विकसित करन पर ही हम हिंदी के वास्तविक व्यापक रूप को समझ सकत है। जातीयता सास्कृतिक परिस्थिति और काव्यभाषा की प्रयोग विधि के आधार हिंदी क विभिन्न जनपदीय रूपो की अविच्छिन्न एकसूत्रता साबित करत हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि मध्यकाल म अधिकतर 'हिंदी', 'हिंदवी' आदि नामो स मध्यदश की बोलियो को सामूहिक रूप म अभिहित किया जाता था। और व्यावहारिक स्तर पर कहा जा सकता है कि शिक्षा, साहित्य, पत्रकारिता

है—सहायक क्रिया, मूल क्रिया संयुक्त काल (१ मूल क्रिया + १ सहायक क्रिया) और संयुक्त क्रिया (दो या दो से अधिक मूल क्रिया)। संज्ञा के साथ-साथ सर्वनाम, विशेषण और परसर्गों (कर्म-सम्प्रदान करण, अपादान, संबंध, अधिकरण के क्रम से) की प्रतिनिधि सूचियां दी गई है। क्रिया के साथ चार प्रमुख कृदंतों का भी उल्लेख किया गया है। अंत में विविध प्रकार के अव्ययों के उदाहरण दिए गए हैं। इन उदाहरणों की प्रविष्टि छंदों की क्रम संख्या के आधार पर है जिससे कवि विशेष की विवेच्य कृति में इन सभी वर्गों के व्याकरणिक रूपों के वितरण की स्थिति भी साथ ही साथ स्पष्ट हो जाए। व्याकरणिक विश्लेषण की यह अपेक्षया संक्षिप्त प्रक्रिया अधूरी लग सकती है पर पूरी मध्यकालीन काव्यभाषा के विस्तार को देखते हुए यही प्रक्रिया व्यावहारिक और इतना ही ब्योरा आवश्यक जान पड़ता है। यहां मुख्य जिज्ञासा यह है कि वस्तुतः भाषा के सर्जनात्मक और व्याकरणिक पक्ष एक दूसरे से कैसे संबद्ध हैं और एक दूसरे के साथ कैसी क्रिया प्रतिक्रिया करते हैं। विविध कवियों के भाषिक विश्लेषण में, और समग्र विवेचन में भी प्रधान दृष्टि यही रही है जिसकी अपनी सीमा है, पर जो एक रूप में शायद विशेषता भी हो जाती है। यहां यह भी स्मरणीय है कि मध्यकालीन काव्य भाषा के व्याकरणिक ढांचे का कुछ व्यापक परिचय अंत में दी गई शब्दानुक्रमणी के द्वारा अपने आप भी हो जाता है। यह शब्दानुक्रमणी एक प्रकार से मध्यकालीन काव्यभाषा की एक संक्षिप्त शब्द सूची बन गई है जिसके कई प्रकार के उपयोग संभव हैं।

कबीरदास

१ कबीर की भाषा के संबंध में हिंदी के आलोचकों और इतिहासकारों ने कई प्रकार के मत व्यक्त किए हैं। संत कवि की भाषा का उग्र तेजस्वी पर संवेदनशील रूप सब का ध्यान अपनी ओर विशेष रूप से आकृष्ट करने में समर्थ हुआ है। फलतः कबीर की भाषा के संबंध में जितनी परस्पर विरोधी चर्चा हुई है उतनी शायद ही किसी अन्य मध्यकालीन कवि के संबंध में हुई हो। पर साथ ही यह स्पष्ट जान पड़ता है कि यह चर्चा अधिकतर व्यक्तिगत प्रतिक्रिया या मत स्थापन के रूप में अधिक है। काव्यभाषा के तात्त्विक विश्लेषण का प्रयास अपेक्षाकृत कम हुआ है।

२ सामान्यतः कबीर की भाषा को लेकर दो प्रकार की स्थापनाएं देखने को मिलती हैं। आलोचकों का एक मत कबीर की भाषा को मिश्रित सधुक्कड़ी कहता है। यह मत मुख्यतः रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी का है—

भक्तिकालीन काव्यभाषा

विश्लेषण प्रक्रिया का स्पष्टीकरण

अलग-अलग कवियो के भाषिक विश्लेषण म जो सामान्य प्रक्रिया अपनाई गई है, उसका कुछ स्पष्टीकरण यहा उचित और सगत होगा। यह विवेचन सामान्यत दो पक्षो को लेकर चलता है—कवि की भाषा मे मौलिक सर्जनात्मक शक्ति और क्षमता की विवेचना और उसकी आधार भाषा का सामान्य व्याकरणिक विश्लेषण। पहले अश म स्वभावत आलोचनात्मक व्याख्या की शैली मिलेगी, और दूसरे अश म तथ्यपरक अनुसधान का प्रयत्न होगा। आलोचनात्मक व्याख्या की प्रक्रिया प्रत्येक कवि के वशिष्ट्य को पकडने की दृष्टि से निजी और मौलिक ढग से चलती है और हिंदी काव्यभाषा की सश्लिष्ट-समन्वित प्रकृति के सदभ मे विकसित हुई है। व्याकरणिक विश्लेषण अधिकतर परपरित पद्धति पर है और पूरे विस्तार म न होकर प्रतिनिधिक रूप म किया गया है। अलग-अलग कवियो का तो सर्वांगीण, और आवश्यकता होने पर आवृत्तिपरक अध्ययन भी व्यावहारिक है। पर जब पूरी मध्यकालीन काव्यभाषा की प्रकृति का विश्लेषण अभीष्ट हो तो इतना सवागीण अथवा आवृत्तिपरक अध्ययन न व्यावहारिक है और न अपेक्षित हो। इस दृष्टि से व्यावहारिक अध्ययन केवल सामान्य ढाचे को लेकर और सकेतपरक रूप म चलता है। उदाहरण के लिए व्यावहारिक अध्ययन की स्वीकृत प्रणाली म सना अथवा क्रिया के विविध रूप रूपातरो का उल्लेख अलग अलग किया जाता है। सना म पुल्लिग और स्त्रीलिंग के रूप कर्त्ता और विकृत-रूप के आधार पर एकवचन और बहुवचन म अलग-अलग दिए जाते है। पर प्रस्तुत अध्ययन म व्यावहारिक कठिनाई यह है कि किसी कवि के पाठ म किसी एक शब्द विशेष के सभी वचनो और कारको म आवश्यक रूप मिल जाएँ यह जरूरी नही है। प्राय इतने रूप सभी कवियो म नहीं मिलते। यही स्थिति विविध क्रिया रूपो को लेकर भी है।

तब व्याकरणिक ढाचे को स्पष्ट करने के लिए प्रधान व्यावहारिक कोटियो का सामान्य परिचय भर दे दिया गया है। यहाँ ध्यान इन मूल रूपो की बनावट पर अधिक है, उनके विविध रूप रूपातरो पर नही। इस दृष्टि से सना को बली और बलहीन रूपो म विभाजित करके कुछ प्रतिनिधि रूपो का उल्लेख कर दिया गया है। क्रिया को बनावट के आधार पर चार वर्गों म रक्खा गया

रूपो का अपेक्षया अधिक महत्त्व होता है क्योकि प्रतीको और बिंबो का गठन मुख्यत उन्ही के आधार पर होता है।

६ यहा पहली समस्या है कबीर की आधारभूत भाषा के स्वरूप निर्धारण का जो अभी तक विवादग्रस्त बनी हुई है। परसग, सवनाम और क्रियारूपो की दृष्टि से कबीर के पदो रमनियो और साखियो का विश्लेषण इस तथ्य को निर्विवाद भाव से स्थापित करता है कि ये व्याकरणिक रूप प्राय ब्रजभाषा के है न कि भोजपुरी या किसी पूर्वी बोली के। हा ब्रजभाषा के साथ मुख्य रूप से खडीबोली के प्रयोग अवश्य मिलते है। नीचे कबीर की भाषा मे प्रयुक्त सज्ञा, सवनामो परसर्गों और क्रिया रूपो आदि के समूची ग्रथावली म से चुने हुए कुछ प्रतिनिधि उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे है जो ब्रजभाषा के हैं। उदाहरणो का क्रम प्रस्तुत शोध प्रबध मे प्राय सर्वत्र मूल रचना म पदो आदि के अनुक्रम से रहेगा जिससे कि प्रकट हो सके कि ये उदाहरण रचना के किसी अश विशेष स नही लिए गए वरन उसके पूरे विस्तार म से सकलित है। विश्लेषण म 'प' पद का सूचक है सा साखी का और र रमनी का

७ सज्ञा

बली ओकारात रूप बसरो (प ५५) अचभो (प ११०), जुलाहो (प २००) चादिनो (सा १।३) कादो (सा २।१३), अदेसो (सा २।१९), सदसो (सा० २।१९)।

८ सवनाम

मैं (प ११) हौ (प २७) मो (प १५) मो (प ४०) मेरो (प १२१)
तू (प ४३) तुम (प १५), तैं (प २०) तेरा (प २०)
ता (सा १५।३४) वा (प १४६)
जा (प१२२)
कौन (प१८१)
का (प४९)

९ परसग

जा कौं (प ३३) पूजन कौं (प९७), मिलन के ताईं (प११), हम सौं (सा ११२०)
साथ सौं (प३५), ता त हिंदू रहिए (प १७८)
उत त (सा १०।३)
गढ़ को राजा (प२५), खाल्हा का (सा १८।१३), हसन की (सा ८।१८)

"इसकी (साखी की) भाषा मधुक्कडी अर्थात राजस्थानी पंजाबी मिली खडी बोली है पर रमनी और सबद में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का व्यवहार है—कबीर का यह पद देखिए—हौं बलि कब देखौंगी तोहि—सूर के पदों की भी यही भाषा है।' (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ६९ ७०) संस्कृत के कूपजल' को छुडा कर उन्होंने भाषा के बहते नीर में सरस्वती को स्नान कराया। उनकी भाषा में बहुत-सी बोलियों का मिश्रण है, क्योंकि भाषा उनका लक्ष्य नहीं था और अनजान में वे भाषा की सृष्टि कर रहे थे।' (हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० ९८) श्यामसुंदरदास का मत भी इसी प्रकार का है। उनके अनुसार 'कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढी खीर है क्योंकि वह खिचडी है—क्रियापदों के रूप अधिकतर ब्रजभाषा और खडीबोली के हैं।' (कबीर ग्रंथावली पृ० ७१) ये आलोचक प्राय कबीर की भाषा को मिश्रित मानते हुए उसमें पश्चिमी बोलियों के तत्वों की प्रधानता स्वीकार करते हैं।

३ कुछ अन्य समीक्षक कबीर की भाषा का रूप पूर्वी (भोजपुरी) मानते हैं। रामकुमार वर्मा ने अपने 'संत कबीर (संक्षिप्त) की प्रस्तावना में लिखा है—"प्रमुखत कबीर की कविता पूर्वी हिंदी का रूप लिए हुए है। (पृ० १७) कबीर साहित्य के एक अन्य विशेषज्ञ परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार— इसके सर्वप्रथम प्रमुख प्रचारक संत कबीर साहब थे जो काशी नगरी के निवासी थे और जिनकी बोली भोजपुरी थी। अपनी बोली को उन्होंने अपनी एक साखी में पूरबी' बतलाया है, जिसका अभिप्राय आध्यात्मिक समझा जाता है किन्तु जिसका साधारण अर्थ पूरबी बोली है। (भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ पृ० ८३) अपने मत के समर्थन में चतुर्वेदी ने उदयनारायण तिवारी का मत भाषा-शास्त्रीय पक्ष का पुष्ट करने की दृष्टि से उद्धृत किया है— कबीर की मूल वाणी का बहुत कुछ अंश उनकी मातृभाषा बनारसी बोली में लिखा गया था। (वही)।

४ पिछले दिनों कबीर की रचनाओं का प्रामाणिक और वैज्ञानिक पाठ (कबीर ग्रंथावली १९६१) पारसनाथ तिवारी द्वारा संपादित होकर हिंदी परिषद् प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। इस पाठ के आधार पर किए गए भाषिक विश्लेषण से प्राप्त कुछ संकेत-सूत्र यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

५ काव्यभाषा के विश्लेषण में दो प्रकार की शब्द-सामग्री मिलती है। एक तो संज्ञा या नाम शब्दावली, और दूसरे विभिन्न प्रकार के व्याकरणिक पद यथा सर्वनाम परसर्ग, क्रिया रूप आदि। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से किसी भाषा के स्वरूप निर्धारण में दूसरे प्रकार की सामग्री अधिक उपयोगी होती है, जबकि काव्यभाषा के अध्ययन में प्रतीक और बिंब विधान को समझने के लिए संज्ञा-

११ कृदंत

वर्तमानकालिक कृदंत करता (सा ३।६)
भूतकालिक कृदंत मारी (सा २८।२)
पूर्वकालिक कृदंत धारि (सा १५।७६)
क्रियार्थक संज्ञा पढिबौ (सा ३३।२)

१२ अव्यय

जिनि (प१६६) मति कहौ (सा २।१६) जिन (सा ९।८७) उत (सा १०।३) इत (सा १०।३) जौ (सा १३।२) तौ (सा १३।२)

१३ प्रस्तुत विवेचन के सन्दर्भ में कबीर की उस साखी पर विचार कर लेना भी आवश्यक है जिसमें कवि ने अपनी भाषा के संबंध में अपना मंतव्य व्यक्त किया है। वह बहुचर्चित साखी इस प्रकार है—

बोली हमरी पूरबी, ताहि न चीन्हे कोइ
हमरी बोली सो लख, जो पूरब का होइ। (सा० १८।११)

१४ इस साखी के आधार पर अनेक विद्वान समीक्षकों ने कबीर की भाषा को भोजपुरी माना है। यहाँ इस साखी की प्रथम पंक्ति के इस अंश की ओर विशेष ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा— ताहि न चीन्ह कोइ। यदि कबीर अपनी भाषा को पूर्वी घोषित करते हैं तो लोगों द्वारा उसे न पहचानने की बात यहीं नहीं उठती। चीन्ह के स्थान पर यदि समझने की बात होती तब तो परंपरागत अर्थ संगति बैठ सकती थी कि हमारी भाषा पूर्वी है और लोग इसे समझ नहीं पाते। दूसरी पंक्ति में भी समझने का भाव न होकर लखने का भाव है। वस्तुत इस साखी का सही अर्थ इस प्रकार होना चाहिए— हमारी वाणी पूर्वी (रंग लिए) है पर उसे कोई पहचान नहीं पाता (क्योंकि काव्यभाषा मूलत और स्पष्टत ब्रजभाषा है)। हमारी अपनी बोली (के तत्त्व) वही परिलक्षित कर सकता है जो पूरब का हो।' यहाँ हमारी बोली से कबीर का तात्पर्य काव्यभाषा से अलग अपनी मातृभाषा से है जिसके कुछ प्रयोग (उनके अनुसार) उनकी काव्यभाषा में मिश्रित हो गए हैं और इस मिश्रण को कोई पूरब का व्यक्ति ही परिलक्षित कर सकता है।

१५ इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामान्यत कवियों की तुलना में कबीर की भाषा में मिश्रण का तत्व अधिक है। पर यह तथ्य भी उतना ही निर्भ्रान्त है कि उनकी भाषा का आधार रूप ब्रज या कहिए मध्यदेश की तत्कालीन परिनिष्ठित काव्यभाषा (जिसमें ब्रज और अंशत खड़ीबोली का संयुक्त रूप प्रधान है) है।

जिम्या म (सा २।३६)

इसके अतिरिक्त कबीर की भाषा में जहाँ-तहाँ परसर्गों के संश्लिष्ट प्रयोग (विभिन्न विभक्ति रूप) भी मिलते हैं जो ब्रजभाषा की एक प्रमुख विशेषता है। कुछ प्रयोग इस प्रकार हैं—

द्वार रचिहै (प३३), ज्यौं माखी सहत नहिं बिछुरै (प६८), कहि कबीर राम रमि घूटहु (प१९१), बिरह भुवगम पठि के किया करेज घाउ (सा १।२) जाय पूछो उस घायल (सा १४।२८), कबीर हरि सौं हेत करि कूड चित्त न लाइ (सा १५।३९), सा दास्त कबीर कीने (सा २९।३)

कर्म, सम्प्रदान और अधिकरण के लिए भाव व्यक्त करने वाले ये संश्लिष्ट रूप ब्रजभाषा के विशिष्ट परिचायक चिह्न हैं।

१० क्रिया

क्रिया रूपा के अन्तगत सहायक क्रिया का हौ रूप भूतकालिक कृदत से बनी क्रिया का औकारात रूप तथा -ह भविष्य का गठन, ये तत्त्व ब्रजभाषा की प्रकृति की ओर संकेत करते हैं।

सहायक क्रिया—हौ (प२००) हौ, (सा० १२।६), हैं (सा १२), है (सा १।६), था (सा १।१०)

मूल क्रिया—क्रिया के भूतकालिक रूप अधिकतर भूतकालिक कृदत से बने हैं और अनेक स्थानो पर बिना सहायक क्रिया के प्रयोग के अकेले भूतकालिक कृदत क्रिया की तरह प्रयुक्त होते हैं। भविष्यत के लिए—ह प्रत्यय जुडता है, परन्तु भविष्य के रूप भी मिलते हैं।

खायौ (प२), बदौ (प१८), आवौ (प१५) दियौ (प१६) रह्यौ (प २१) डार्यौ (प २३) लियौ (प २५) कोप्यौ (प २६), करिहौं (प ३६), भयौ (प३६), घालौ (प८४) ठाऩौ (प८५), छाडौ (प५८) बिनसगौ (प७०) जइयौ (प८८), बूडिहौं (सा २।११), गहौं (सा २।११), उमिहै (सा २।११) जरौ (सा २।२०) करौं (सा २।२०) मिलिहै (सा २।२८), दगौ (सा १।२२), जारौगी (सा १६।३५) परिगो (सा ३३।६)

संयुक्त काल—चितवत हौं (सा ११।६) सुमिरत हू (र १९) मानत हैं (सा १६।१६)

संयुक्त क्रिया—मरि जाइयौ (प११०) छाँडि चल (प१२१) जारि गयौ (प११०), मरि जाइगा (सा २।१२) तरफन जाइ (सा १।३९), चला जाइ था (सा ८।१८)

मोत मलियाँ हैं" (पृ० ५७)। आधुनिक काल में परिनिष्ठित हिंदी के बहु चर्चित उपमान—ने यहाँ बहुत कम है जैसे कि वह स्वयं दिल्ली मेरठ के जनपदीय बोली में भी नहीं है। शब्द समूह में फारसी का रंग गहरा है पर संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी कवि निधड़क प्रयोग करते हैं। संस्कृत शब्दों के प्रयोग के कुछ प्रतिनिधि उदाहरण पूरे सरल्न में से चुन कर दिए जा रहे हैं—

विचित्र हूँ चित्र चितेरना मेरा काम है। एसा चित्र चितरूँ (८८) यो वस्तु वो नहीं जा गई सो हात फिर आवे (४६) विरह में तिलमिल्या ज्या त्या हलाक है वस्ल में भी दिल (५८) कुतल के फूल साहत हैं ओ मुज पर (८६), दसन नावात अधरामृत के पानी सो घुली जो (१०६), दो नाभि दो भवर अहैं सुधाम के दरिया मने (११९) फहम का सो गम्भीर दरिया हूँ मैं (१३४), चदर-नूर ते खूब निर्मल निछल (१३८) पवनसार जल्दा में अचरुप रूप (१३९), जगत नैन कू नींद पकड़ी देखल (१५१) कह्या या कि ऐ मोहिनी, नेकनाम (१५६) सो आदम कतक वो पड़े दृष्टितल (१५८) सो फुलनार सो मुख धुलाया उसे (१६१) हु शर्मिंदी मैं उसके उपकार ते (१६२) केतक देस उस गह कुँ बहुमान कर (१७६) उत्तम डामनियाँ मिल के गाने लग्या (१७८) कि है इद्रायन के यो फल के सार (१८४) फिर वो नार ज्यो मीन बिन नीर की (१८७) सुकी होर प्यासी लगे पाव साथ। अकेली निराधार ना कोइ सँगात (१९६), जमी का मगर यो है देवेंद्र आज। पुनम का यही है मगर चद्र आज (२०४) भला जो तु रोज आये मेरे मंदिर (२०९) खुदा मुज काम कू अतिबल दिया (२४१) दिसे तल्प बालू हो चिंगियाँ की रेज (२०७) कंचन की उत्तम वस्तु कू क्या काम टक निखार का (२७९) ए तुजसो मेरे हौज़ मे नार है (२९३) नयनजल सो धोकर किया बरतफ (२९४) वह उज्वल चचल नार सुध ज्ञान धर (२९५) मुश्ताक है दर्शन का टुक दरस दिखाती जा (३१०)।

२३ इस अंतिम उद्धृत पंक्ति में मुश्ताक और दर्शन का जिस निधड़क भाव से एक दूसरे के आमने सामने रख कर प्रयुक्त किया गया है उससे इन कवियों की भाषा संबंधी दृष्टि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इनके लिए फ़ारसी शब्दों का प्रयोग जैसा सहज था संस्कृत शब्दों के लिए भी उसी तरह कोई कुंठा न थी। इसलिए 'कनक दिल' (२८३) जैसे समासों का भी कहीं-कहीं प्रयोग मिल जाता है।

२४ संस्कृत के तत्सम शब्द प्रयोगों की एक सूची ऊपर दी जा चुकी है। पर इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण उन अर्द्ध-तत्समों या तद्भवों का प्रयोग है, जिनमे

खडीबोली का काफी पुष्ट प्रयोग कवि ने किया है, पर वह भाषा का मुख्य रूप नही कहा जा सकता। जहाँ तक मिश्रण का सबध है, कबीर की भाषा म पश्चिम की राजस्थानी और पजाबी के कुछ प्रयाग मिलत हैं, और पूरब की अवधी और भोजपुरी के। पर इस सारे मिश्रण के बावजूद कबीर की भाषा का ब्रज आधार रूप स्वत अक्षुण्ण और स्पष्ट बना रहता है।

१६ कबीर की भाषा म ठेठ शब्दा का प्रयाग उतना महत्वपूण नही है जितना सस्कृत (और किसी सीमा तक फारसी) के तत्सम शब्दा का विकृत प्रयोग है। साक्त (शाक्त), तत्त, (तत्व) किरिम (कृमि) सुनि (शून्य), मिरिग (मग), त्रिस्न (कृष्ण), सुम्रित (स्मति) निमप्रही (निस्पह) जस विकृत किए गए शब्द कबीर की शिक्षा के अभाव को उतना व्यक्त नही करते जितना सस्कृत भाषा के प्रति उनके विद्रोह और अवमानना के भाव को व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार कबीर जब कुरान के लिए 'कतेब' शब्द का व्यवहार करते ह तो इसस उनके मन का उपेक्षा भाव ही व्यजित हाता है। सस्कृत के विराध म जानबूझ कर प्रयुक्त वह अपभ्रष्ट शली स्तो क बीच म एक सीमा तक अतर्प्रान्तीय स्तर पर प्रतिष्ठित देखी जा सकती है उनकी जनभाषा के रूप को अधिक खरा पन और प्रामाणिकता दन क लिए। इस दृष्टि स कबीर की शब्दावली ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि किसी एक भाषा रूप स सबद्ध नही जान पडती। भाषा क जनसस्करण रूप का निवाह कवि न उच्चारण के प्रसग म भी बडी ईमानदारी क साथ किया है। उच्चारण म बढती हुई अनुनासिकता का तत्व उन्हान अपनी भाषा म बराबर प्रदर्शित किया है—राम मुकामा ध्यान रहामा रम-जाना वाना जसे शब्दा म अनुस्वार जनसाधारण के बेपरवाही स किए गए अनु-नासिक उच्चारण के अनुरूप ही है यद्यपि शिष्ट लेखन म यह अनुनासिकता का तत्व आज भी नही दिखाया जाता।

दक्खिनी हिंदी के कवि

१७ यह हिंदी भाषा की समन्वयात्मक प्रकृति के अनुरूप है कि एक हजार वर्षों के लम्बे इतिहास म उसकी काव्यभाषा का बाहरी ढाचा तो बदलता रहा आतरिक आधार भी कइ बार बदला है। मध्यदेश की प्रमुख बोलिया—खडीबाली ब्रज अवधी, बदल-बदल कर हिंदी काव्यभाषा के आधार रूप म विकसित हुई है। इन आधारा म खडीबाली की विशेषता कई कारणा स है। एक तो वह हिंदी काव्यभाषा के प्राचीनतर आधारा म है। दूसरे यह कि प्राचीनतर हाने के साथ-साथ वह घूमकर अब फिर समकालीन आधारा म भी

२७ दक्खिनी के अधिकतर कवियों में भाषागत तद्भव वृत्ति के प्रति झुकाव के साथ साथ भारतीय वातावरण को भी निष्ठा के साथ अंकित किया गया है। इस्लाम धर्म के अनुयायी होने के कारण उनका अरबी फारसी सांस्कृतिक वातावरण की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक है। पर इसके बावजूद उनकी आस्था भारतीय जीवन पद्धति में रही है। पौराणिक संदर्भ और अप्रस्तुत विधान में बहुत से परंपरागत भारतीय चरित्र स्वीकार किए गए हैं। वजही की रचना 'सबरस' में पंक्ति आती है— गम जमा साहब जाय तो हनुमन जसा नफर पदा होय (पृ० ८५) सबक सब्य प्रसंग में हनुमान और राम का उल्लेख कितना स्वाभाविक है। इसी प्रकार उत्सव के प्रसंग में नृत्य का वर्णन है— सदर बिछाय पाचे रंभा उरवसी मेनका पातुरां नाच। (पृ० ७८)।

२८ भारतीय वातावरण की दृष्टि से दक्षिण के प्रसिद्ध सुल्तान मुहम्मद कुली कुतुब (१५८० १६१२ ई०) का काल विशेष रूप से उल्लेखनीय है। विषय वस्तु, प्रकृति सभी दृष्टियों से मुहम्मद कुली की रचनाएं अरबी फारसी प्रभाव से दूर, ठेठ देशी भाव भूमि पर प्रतिष्ठित हैं। छन्द विधान को छोड़कर उसके कृतित्व का अधिष्ठान भारतीय परम्परा का है। कवि द्वारा वर्णित ऋतु उत्सव विशिष्ट अवसर राग वर्णन सभी भारतीय जीवन के अभिन्न अंग हैं। वसंत और वर्षा पर कई लंबी कविताएं सौभाग्यवती स्त्री का सौभाग्योत्सव संयोग और विरह के चित्र भारत के जातीय जीवन से लिए गए हैं। मंगलाचरण करते हुए कवि कहता है—

भौतिक मया सती अपन, दीता कुतुब कू सब दखिन।
सेऊं नबी का नित चरन, जब लग है तन म्याने जिया॥ (पृ० ८२)

मुहम्मद कुली के नायिका भेद और नखशिख वर्णन में रीतिकालीन कवियों का स्मरण हो जाता है। नायिकाओं के कुछ उल्लेख इस प्रकार हैं— सांवली कँवली पियारी गोरी छबीली लाला मोहन हैदरमहल (भागमती) हालम हिन्दी छोरी पद्मिनी आदि। नखशिख वर्णन में परम्परागत भारतीय उपमानों चकोर तोता हंस चंद्रमा मोती का इसी शब्दावली में प्रयोग किया गया है (१०५)। और मुहम्मद कुली ही नहीं दक्खिनी के अन्य कवि भी प्रेम के प्रसंग में विरह का अंकन इसी रूप के साथ करते हैं।

२९ इस विवेचन से स्पष्ट है कि दक्खिनी हिन्दी का काव्य भारत की अपनी जातीय परंपराओं में प्रकृति और प्रवृत्ति में पूरी तरह अभारतीय है। नाम की दृष्टि से इसे प्राय सर्वत्र हिन्दी हिन्दवी कहकर अभिहित किया गया है। भाषा में फारसी शब्दावली का बाहुल्य न होकर संस्कृत के तत्सम शब्दों की यथा

कवियो की भावात्मक समक्ति और आत्मीयता अधिक दिखाई देती है। ऐसे शब्दों की एक सूची द्रष्टव्य है—

मदनमूरत (३७) पिरीत (५९) रुच (६८) चरन (८२) औतारी (९१) सुलक्खन (१२३) दिष्टतल (१५८) द्योम (१५६) तिरलोक (१७६) धरतिरी (१८१) गुपत (२०५) मुनसिरी (२०९) अँगारा, जातवता (२११), मादा मावन (२२२) वजरसिल (२६९) पालनहार (२८०) धरम (३१०)।

२५ इस प्रसग म कुछ कवियो द्वारा अपनी कृतियो के नामकरण भी उल्लेखनीय हैं। निशाती की मस्नवी का नाम है 'फूलबन'। इशरती की कृतियो म है—'चितलगन' 'दीपक-पतग' और 'नेहदपन'।

२६ इस विवेचन स स्पष्ट है कि दक्खिनी के कवियो म सामान्यत न फ़ारसी के प्रति अतिरिक्त आकर्षण है और न सस्कृत को लेकर कोई कुठा। सस्कृत और फारसी की सस्कृतियो का यह आरभिक समन्वय आगे चलकर अपने उर्दू रूप म फ़ारसी के प्रति अधिक झुक जाता है। सनअती ने अपनी मस्नवी किस्सा बेनज़ीर' म प्रयुक्त भाषा के बारे म लिखा है—

इसे फारसी बोलना शौक था। वले के अजीजो कुँ यो ज़ोक था।
कि दखनी ज़बाँ सो इसे बोलना। जो सीपी तें मोतीनमन रोलना।
रख्या कम सहस्कृत के इसमे बोल। अदिक बोलने ते रख्या हूँ अमोल।
जिसे फारसी का न कुछ ज्ञान है। सो दखनी ज़बाँ उन कू आसान है। (पृ० २३०)

अपनी भाषा के बारे म कवि की इस प्रतिज्ञा से प्रकट होता है कि वह उस फारसी और सस्कृत के शब्दों के प्रयोग के बावजूद यथासभव तदभव रूप म रखना चाहता था। दक्खिनी की इस तद्भव प्रकृति को ध्यान म रखकर राहुल साकृत्यायन ने अपने सकलन 'दक्खिनी हिंदी काव्यधारा' म डाक्टर ज़ोर का मत उद्धृत किया है— उनसे मालूम होता है कि सर्वप्रथम उर्दू (दक्खिनी) कवियो ने हिंदी कविता का अनुकरण आरभ किया था। यदि वह इसपर कायम रहते तो शायद उनकी कविता आज किसी दूसरे ही रूप म होती। (पृ० १८) राहुल ने स्वय भी अपना मत इस सदर्भ म दिया है— दक्खिनी हिंदी के इन कवियो की रचनाओ म सस्कृत और हिंदी के शब्द बहुत अधिक मिलते है जिन्ह आगे चल कर क्रम-क्रम करते अत म केवल व्याकरण हिंदी का रहने दिया गया। (पृ० ८०) उपर उद्धृत सनअती का भाषा सबधी उक्ति पढ कर सस्कृत के प्रति केशवदास की अवश्य निष्ठा याद आती है— भाखा बोलि न जानही जिनके कुल के दास। भाखा कवि भो मदमति तहि कुल केशवदास।

है। कई पाठ-कर्ता व्याकरणिक गठन को काव्यभाषा का स्वरूप मान लेते हैं जो ठीक नहीं। यहाँ आधार से अभिप्राय उस भाषा से है जिसे कवि अपने समय की प्रचलित भाषा के रूप में उठाता है और जिसके सामान्य व्याकरण और शब्दावली को स्वीकार करते हुए उन्हें अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त करता है। भाषा का यह रूप उसके लिए परंपरा से सुलभ है। पर इतने में वह सन्तुष्ट नहीं हो जाता। यहीं से तो उसका रचना कर्म आरंभ होता है। भाषा के इस व्यापक प्रचलित रूप में वह अपने विशिष्ट अनुभव को व्यक्त करना चाहता है और इसके लिए वह नए-नए प्रयोग, प्रतीक, बिंब विधान आदि प्रक्रियाओं का सहारा लेता है। यह काव्यभाषा का विधान है। इस प्रकार आधार की परीक्षा करते हुए हम अक्सर को अधिकतर भाषा के व्याकरणिक पक्ष तक सीमित रखते हैं जब कि 'विधान' का विवेचन करते समय भाषा की विशिष्ट सृजनात्मक शक्ति का विश्लेषण करना चाहते हैं। कहना न होगा कि ये दोनों पक्ष परस्पर जुड़े हुए हैं और इनको मिलाकर ही रचना के संदर्भ में भाषा की समग्र सत्ता समझी जा सकती है।

३३ पहले जायसी की काव्य भाषा के आधार रूप की चर्चा अभीष्ट है। यद्यपि जैसा स्पष्ट किया गया केवल व्याकरणिक वर्णन से हम किसी भाषा का स्वरूप निर्धारित नहीं कर सकते। भाषा निरूपण में व्याकरण एक महत्वपूर्ण आधार है पर एकमात्र नहीं। जातीय और सांस्कृतिक स्थिति तथा काव्यभाषा की प्रक्रिया व अन्य तत्व हैं जिनके विवेचन से भाषिक अध्ययन संपूर्ण होता है। प्रस्तुत विवेचन में जायसी के भाषिक अध्ययन के लिए विश्लेषण का आधार 'पद्मावत' (डा० माताप्रसाद गुप्त का संस्करण १९५२) के चुने हुए अंश हैं।

३४ *संज्ञा*—ऊकारांत प्रयोगों का बाहुल्य (करतारू समारू कबिलासू, सुलतानू पाटू बाजू राजू पहारू) तुलसी की भाषा का स्मरण कराता है। जायसी या तुलसी की भाषा में मिलने वाले बहुसंख्यक ऊकारांत प्रयोग ह्रस्व उ से युक्त शब्दों के दीर्घ रूप हैं। यह स्मरणीय है कि इन दोनों ही कवियों में अधिकतर—जायसी में तो प्रायः निरपवाद रूप में—ऊकारांत प्रयोग चौपाई के अंत में अंत्यानुप्रास की स्थिति में आते हैं। बीच में उकारांत प्रयोग तुलसी में अधिक हैं जायसी में कहीं कहीं ही हैं (मरमु दुख बिरँचु)। स्त्रीलिंग शब्दों के अंत में इसी प्रकार ह्रस्व इ है। यह प्रवृत्ति भी जायसी में कहीं-कहीं दिखाई देती है— उहरि बसरि पुरइनि आगि।

३५ शब्दों के अंत में यह उ ऊ अथवा इ की स्थिति इस बात की द्योतक है कि जायसी और तुलसी दोनों शब्द रूपों का उनके जन प्रचलित उच्चारण के

बडी सख्या म हैं, और बडी बात यह है कि वे बिना किसी हिचक के प्रयुक्त हुए हैं। इन दोनो तरह के तत्समा को रखने पर भी पर भाषा की प्रकृति सामान्यत तद्भव है। कथा-वातावरण म फारसी रग के बावजूद भारतीयता कही दबी नही है। एक कवि अब्दुल (१६०३ ई०) न तो लिखा है— जबाँ हिंदवी मुझसा हार देहलवी। न जानू अरब हार अजम मस्नवी" (पृ० १२८)। अरबी और फारसी शब्दावली के प्रति यह निरुत्साह सवत्र तो नहा ह, पर जसा कहा गया, भारतीय सन्दभ और वातावरण कही क्षत नहा लगता। हाँ, छद विधान अवश्य अरबी फारसी का ह। कही-कही किसी खास दृष्टि से वजही न 'सबरस' म दोहो का प्रयाग किया है जा उद्धत भी हो सकत हैं। 'दोहरा दत समय कहीकहा एस उल्लख भी आत ह— 'ग्वालियर के मुमाने, या बाल्ते ह (दोहरा)"। दोहा का भाषा ब्रज है पर एक जगह खुसरो के नाम पर जो दोहा है, उसकी भाषा खडीबोली है। इस सदभ म एक मुख्य बात यह भी है कि दक्खिनी के काव्य म, जसा पहल भी सकत किया गया, अप्रस्तुत विधान और अभिप्रायो का सामान्य आधार भारतीय है। यह भारतीयता और भी समझ म आती है जब दक्खिनी की तुलना ठेठ उदू काव्य म होती है, जहा अधिकतर अरबीफारसी वातावरण का बोलबाला ह।

३० कुल मिलाकर दक्खिनी हिंदी के इस साहित्य को हिंदी काव्यभाषा के आरभकालीन आधार का आदि खडीबोली रूप कहा जा सकता है। आगे चलकर अलग शाखा के रूप म एक खास तरह की मुहाविरा प्रधान काव्यभाषा तथा शब्दसमूह और सास्कृतिक वातावरण की एकातिकता को लेकर उदू का साहित्य विकसित हुआ। इस दृष्टि स दक्खिनी हिंदी का काव्य अपने मिश्रित रूप म हिंदी और उदू कविता की सम्मिलित सपत्ति कहा जाएगी।

जायसी

३१ जायसी की काव्यभाषा का आधार तुलसी से कहा अधिक ठेठ अवधी का माना जाता है। तुलसी म जड सवत्र रूप स ही नही, सस्कृत का आभिजात्य है, जिसका जायसी म अभाव ह। फिर जायसी म फारसीपन प्राय उतना ही है जितना कि उस युग की भाषा म सामान्यत प्रचलित था। इसलिए जायसी की भाषा म कुछ मिलाकर ठठपन अधिक है।

३२ प्रस्तुत सदभ म काव्यभाषा का आधार और काव्यभाषा का विधान इनके बीच के महत्वपूर्ण अतर को समझना जरूरी है। पिछले दिनो समीक्षा म तो नहा पर शोध म इन दोनो को लेकर विभ्रम की स्थिति उत्पन्न हो गई

३८ जायसी के काव्य में तद्भव शब्दावली पर विशेष बल होने के कारण वर्तमान युग के पाठक को उनकी भाषा अपेक्षया दुरूह और अटपटी लगती है। भाषा के क्षेत्र का यह एक व्यंग है कि समुचित काव्य परंपराओं तथा साधना के अभाव में एक युग की जनभाषा अगले युग में सामान्य जनता के बीच दुर्गम हो जाती है। जबकि संस्कृत तत्सम शब्दावली पर आधारित काव्यभाषा समझने की दृष्टि से परवर्ती युगों में भी विशेष कठिनाई उत्पन्न नहीं करती। इस संदर्भ में कबीर और जायसी की भाषा का मिजाज पहली तरह का है जबकि सूर और तुलसी का काव्यभाषा का गठन दूसरी तरह का है। प्रवाह जनभाषा तथा तत्समता दोनों ही के, एक दूसरे को बल देते हुए चलते रहते हैं। किसी कवि में एक तत्व प्रधान हो सकता है किसी अन्य में दूसरा।

३९ सर्वनाम—संज्ञा शब्दावली भाषा के सांस्कृतिक तत्त्व को विशेष रूप से अभिव्यक्त करती है सर्वनाम रूप व्याकरणिक ढाँचे को स्पष्ट करते हैं। सर्वनाम के अतिरिक्त परसर्ग क्रिया और अव्यय विशेष रूप से क्रिया भाषा के व्याकरणिक रूप को प्रकट करते हैं। जायसी में ठेठ अवधी के सर्वनाम हैं—

मैं हौं,
तू तुम्ह (१३), तै तुम्हार (१३)
वह ओइ (७) ओहि (२)
जो (१४) जेइँ (१) जहि (५)
सो (७) तेहि (१३)
काउ (१५) काहू (१४)

संज्ञा की भाँति सर्वनाम रूप भी उकारांत में मिल जाते हैं जैसे—आपु कौनु। सर्वनामों के प्रयोग से अद्वैत प्रक्रिया की व्याख्या कवियों और मर्मियों ने प्राय की है। जायसी उसी परंपरा में कहते हैं—'हौं हौं कहत मत सब कोई। जौ तू नाहिं आहि सब सोई। (२१६।५)

४० परसर्ग—परसर्गों में अवधी का और ठेठ रूप परिलक्षित किया जा सकता है। स्वतंत्र रूप में किसी अर्थ का बोध न कराने के कारण भाषा के अंतर्गत परसर्ग एक माने में सबसे अधिक व्याकरणिक तत्त्व हैं। अर्थवान शब्दों का परस्पर जोड़ कर उन्हें और सार्थक बनाना परसर्गों का काम है। 'पद्मावत' में प्रयुक्त परसर्ग हैं—

क—१ कहँ ५ काहि १४
सो ३
क ११ के ९ कर ६ की १५ कर १

नुसार ही स्वीकार करते हैं। भाषा का वास्तविक प्रमाणीकरण जनप्रयोग से होता है कोश या व्याकरण ग्रथा से, नही, इस बात को इन कवियो ने अच्छी तरह समझा था। कुछ समीक्षको ने उकारात अथवा ऊकारात प्रयोगो को लिपिगत दोष मान कर उनका उपहास किया है। पर जायसी या तुलसी के सस्करणो म यह लिपिगत दोष न होकर भाषा के उच्चरित रूप के प्रति वफादारी है।

३६ सतो तथा सूफ़ियो की काव्यभाषा समान रूप स सस्कृत से दूर, तथा जनभाषा के निकट है। योग आदि के पारिभाषिक सदर्भ म जहा सस्कृत तत्समो के प्रयोग की सभावना होती है वहा भी ये कवि इन तत्समो को विकृत करके अर्द्ध तत्सम-सा बना लेते हैं। जायसी 'दृष्टि' के लिए 'दिष्टि' और रुद्राक्ष के लिए रुद्राख का प्रयोग करते हैं। यहा स्मरणीय है कि योग या दर्शन के सदर्भ म कवि दिस्टि का प्रयोग करता है—उलटि दिस्टि माया सौ रूठी' (१२५ ८) जबकि सामान्य सदर्भ म वे प्रचलित डीठि' को रखते है— भवैं भलेंहि पुरुषन्ह के डीठी' (१३१७)। शब्दो की छाया के प्रति यह जागरूकता किसी भी बडे कवि म देखी जा सकती है।

फारसी तत्समो के बारे म भी जायसी की यह नीति है। सुरुखरू' तुखारा 'मखदूम' जसे प्रयोग अवधी की ध्वन्यात्मक प्रकृति म ढल कर विशेष रूप से प्रीतिकर लगते हैं। पर फ़ारसी के ऐसे भी प्रयोगो की सख्या कम है। वस्तुत कवि का इस्लामी या सूफ़ी तत्त्व दर्शन पूरी तरह तदभव प्रकृति म ढला है।

३७ जायसी की तदभवप्रियता म सस्कृत तथा फारसी के व्यक्ति वाचो-शब्दो का रूप भी तद्भव बना लिया गया है। गोग' चक्रावूह' खिखिद' हनिवत', किरसुन' 'सिकदर' उम्मर मुहमद' (कविनाम) जसे प्रयोग शिष्ट भाषाओ के आभिजात्य का निरसन करके जनभाषा के अनुकूल वातावरण का निर्माण करते हैं। ज्ञान के विशिष्ट मार्ग के सामने भक्ति की जनतात्रिक प्रक्रिया का परिचालित करने म भाषा प्रयोग का केन्द्रीय स्थान है। भाषा के एसे प्रयोग ने भक्ति की सवेदना को जनतात्रिक बनाया। कबीर तुलसी जायसी के लिए सस्कृत के समक्ष भाषा (भाखा) का प्रयोग मूलत रचनात्मक निष्ठा का प्रश्न था। इसी निष्ठा और आत्मविश्वास के साथ जायसी ने कहा है—

आदि अत जसि कथ्था अहै। लिखि भाखा चौपाई कहै (२४५) जन-भाषा प्रयोग की ऐसी ही अकुठित घोषणा अपने-अपने ढग स कबीर एसे फक्कड और तुलसी एसे मर्यादावादी कवि ने की है। भक्ति-युग की चेतना सच्ची जातीय चेतना थी यह तथ्य भक्त कवियो की काव्यभाषा म पूरी तरह प्रमाणित होता है।

ने आरंभ में सिंहल द्वीप के पक्षियों का वर्णन करते-करते कवि कह है—

> जावँत पंखि कहे सब बैठ भरि अँवराउ।
> आपनि आपनि भाषा लेहिं दइअ कर नाउ॥ (२१।८)

मात अट्टालिया म विविध प्रकार के पक्षियों का वर्णन करने के बाद यह दोहा आता है। यहाँ आकर जसे सारे पिछले इतिवृत्तात्मक वर्णन को एक गति और दिशा मिल जाती है। इस दोहे के अभाव म वृक्षों पर बैठ दजनों पक्षियों की एक सूची बन जाती पर उस अमराई का कोई काव्यात्मक बिंब न बन पाता। अपनी अपनी शाखा पर बैठ कर अपनी अपनी भाषा म प्रभु का नाम-स्मरण करते हुए पक्षियों का यह रूप-वर्णन एक सीमा तक प्रस्तुतपरक होते हुए भी बिंब की छवि प्राप्त कर लेता है। इस बिंब प्रक्रिया मे मुख्य शब्द प्रयोग है—'दइअ'। अवधी के इस छोटे से और बहु प्रचलित शब्द रूप के माध्यम से सृष्टि म निहित विराट और व्यापक सत्ता का गहरा अहसास होता है। यह भी स्मरणीय है कि यदि दइअ का स्मरण करते मनुष्य चित्रित होते तो इस शब्द म अर्थ के इतने विस्तार की संभावना न होती। परंतु छोटे विनम्र पर आकर्षक पक्षियों के संदर्भ म 'दइअ कर नाउ' प्रभु की भांति ही विराट हो जाता है। 'पंखि' की निरीहता और दइअ की विराटता के रचनात्मक तनाव से यहाँ अर्थ का संश्लिष्ट विकास संभव होता है।

८५ पर बात इतनी ही नहीं है। ईश्वर और अल्लाह से अलग अवधी का बहुप्रचलित 'दइअ' प्रयोग इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि वह हिंदू या मुसलमान या किसी भी धार्मिक परंपरा से अलग प्रभु की उपस्थिति का सीधा साक्षात्कार करा पाता है। 'ईश्वर' या 'अल्लाह' जसे शब्दों के साथ अनेक धार्मिक-साम्प्रदायिक संस्कार जुड़े हुए हैं दइअ ग्रामीण जन जीवन म धर्म से उतना नहीं जितना विनम्र आस्था से जुड़ा है। इस तरह जायसी का यह शब्द प्रयोग एक पंक्ति या एक दोहे को नहीं बरन एक पूरे अंश को वर्णन के धरातल से उठा कर व्यापक अनुभव बना देता है। एसे सावधान और निर्मल प्रयोग छोटे-से छोटे शब्द को अर्थ की अनंत संभावनाओं से भर देते है।

८६ वर्णनों के बीच म ये संश्लिष्ट बिंब विकासशील अर्थ प्रक्रिया के साधन होते हैं। कवि ने इन बिंबों का चुनाव सामान्य भारतीय जन-जीवन से किया है इसलिए भी उनका संप्रेषण बेजोड़ है। एक ओर उनमें अरब और फारस के विदेशी तत्व नहीं और दूसरी ओर आभिजात्य की तरफ झुकाव नहीं। क्या हिंदू क्या मुसलमान सभी वर्गों और स्तरों के व्यक्तियों के लिए ये बिंब अपना

महँ ५, माहा १,
लगि १३

४१ क्रिया——क्रिया व्याकरणिक बनावट के केन्द्र म होती हैं। जायसी म अवधी क ठेठ क्रिया रूप मिलत है। अवधी क दो भेदक रूप हैं—'इसि' जोड कर बने भूतकाल, तथा -'व जोड कर बने भविष्यत। 'कीन्हेसि' 'दिहिणसि, 'कहसि जस रूप पहले वग म है, और 'जाव 'दाहव', उडाउव, चल्व दूसरे वग म। सहायक क्रिया के प्रसिद्ध रूप ह - अहै' (है) 'अहा' (था)। अवधी के अन्य प्रसिद्ध भूतकालिक रूप 'भा', 'भ' (हुआ हुए) गा (गया) भी 'पद्मावत' म बहुप्रयुक्त हैं। इस युग का काव्यभाषा म सयक्त क्रिया का अपक्षया कम प्रयाग भाषावैज्ञानिका न परिलक्षित किया है। डा० बाबूराम सक्सना ने अपने प्रसिद्ध शोध ग्रन्थ' 'अवधी का विकास म बताया है कि अवधी की आरम्भिक स्थिति म सयुक्त क्रिया क रूप बहुत प्रचलित नही हे (पृ० २९६)। जायसी म क्रियागठन अधिकतर एक क्रिया रूप से सपन्न होता है सयुक्त काल और सयुक्त क्रिया के कम प्रयोग हैं।

४२ 'पद्मावत' के विविध व्याकरणिक रूपो के सक्षिप्त विवेचन स स्पष्ट ह कि जायसी न अपनी रचना मे ठेठ अवधी का प्रयाग किया है। आचाय रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो म वह सस्कृत का कोमल-कान्त-पदावली पर अवलम्बित नही है। उसम अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए हुए है। 'मजु', 'अमद' आदि की चाशनी उसम नही है।' (जायसी ग्रथावली, चतुर्थ सस्करण पृ० २०५)।

४३ जायसी की भाषा का सास्कृतिक मिजाज सीमित धार्मिक या साम्प्रदायिक तत्वा स न बँध कर व्यापक जन चेतना मे जुडा हुआ है। जायसी के सदभ मे यह बात इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हा जाती है कि इस्लाम का सूफी शाखा स प्रभावित होकर उन्हान कसे अपने व्यक्तित्व का पूरी तरह भारतीय बनाया है जहाँ हिन्दू मुसलमान का भेद छोटा लगन लगा। कबीर तुलसी या सूर क सामन यह समस्या इस रूप म नही थी। या यह विशेषता सभी बड कवियो म मिलगी कि व यदि धम के किसा रूप विशेष स प्रेरित हुए ह तो भी उन्होने अपने का उसका साम्प्रदायिक भावना स मुक्त रखा ह। व्यापक मानवीय भाव भूमि तक पहुचन का यत्न प्रत्येक साधकता की चाह रखन वाला कवि करता ह। और इस मान म कवि मानो सबसे अधिक मनुष्य होता ह।

४४ जायसी का भाषा प्रयाग इस बात का कारण भी है और प्रमाण भी कि उनकी काव्य-चेतना धार्मिक सम्प्रदायो और मतवादो स ऊपर थी। पद्मावत'

चरण और विनय के संस्कृत श्लोक रख कर 'भाखा' में रचना करते हुए भी संस्कृत को प्रतीकात्मक महत्त्व दे दिया है, पर सूर सब से अलग हैं। उनमें न तो संस्कृत के प्रति कोई आतंक भाव है और न तत्भवता के लिए कोई मुखर आग्रह है। उनकी काव्यभाषा और पूरे रचना-संस्कार में तत्भवता या देसीपन अपने एकदम सहज रूप में है यहाँ तक कि उसकी कोई प्रतीति भी नहीं होती। और यह प्रतीति न होना ही तत्भवता या देसीपन की सबसे खरी पहचान है।

४९ मध्यकालीन कवि अपनी काव्यभाषा के आधार को संस्कृत से अलग करने के लिए प्रायः भाखा कहकर उसे अभिहित करते हैं। पर इस एक 'भाखा' शब्द का प्रयोग अलग अलग कवियों ने अलग-अलग अर्थ छायाओं के साथ किया है जिससे उनकी अपनी रचना मन स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। काव्यभाषा के प्रति कबीर का दृष्टिकोण लोक परंपरा में प्रसिद्ध है - ससकिरत है कूप जल भाखा बहता नीर। यहाँ स्पष्ट ही संस्कृत के प्रति एक हल्का तिरस्कार और अवमानना का भाव निहित है और भाखा के लिए अदम्य उत्साह है। दूसरी तरफ जनश्रुति के अनुसार काशी के संस्कृत पंडितों से अपमानित हो कर भी तुलसी अपने भाखा प्रयोग को लेकर कोई अप्रिय विवाद नहीं खड़ा करना चाहते। इसीलिए वे सीधे-सादे आत्मतोष का हवाला देते हुए कहते हैं— 'भाखा बद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहिं होई।' एक अन्य स्थल पर वे संस्कृत और भाखा का विवाद मिटाते हुए प्रेम के तत्व पर बल देते हैं—

> का भाखा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच
> काम जु आवै कामरी, का लै करै कुमाच।

किंतु परवर्ती कवि केशवदास भाखा का प्रयोग करते हुए अपने को लज्जित अनुभव करते हैं—

> भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास
> भाखा कवि भो मंदमति, तेहि कुल केशवदास।

'भाखा' को लेकर कबीर की ललक, तुलसी का अप्रकट और तटस्थ संतोष, तथा केशव की कुंठा उनके इन प्रयोगों में साफ झलकती है। पर सूर की काव्यभाषा के किसी विशेष प्रकार के संबंध में उद्घोषणा करने की आवश्यकता महसूस नहीं होती। उन्हें व्रजभाषा का प्रयोग सहज भाव से करना था जिसके लिए कुछ भी सफाई क्या अपेक्षित थी।

५० सूर में व्रज की तत्भव शब्दावली है, और उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह कि ठेठ प्रयोग है। सूर की भाषा में यह अघोषित भाखापन उनके संप्रेषण को अधिक दक्ष बनाता है। एक ओर उनकी शब्दावली पाठक को आत्मीयता

अर्थ खोलते हैं। पद्मावत में सिंहलगढ़ का वर्णन जगह-जगह शरीर व योगपरक स्वरूप को मनना में व्यंजित करता चलता है। ऐसे ही प्रसंग में एक दोहा आता है—

> मुहमद जीवन जल भरन रहँट घरी कै रीति।
> घरी सो आई ज्यों भरी ढरी जनम गा बीति॥ (४२१८)

जायसी के ऐसे सीधे-सरल पद अथवा बिंब विधान पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मुग्ध हुए थे। रहँट के चलने में जल भरने और खाली होने का जो बिंब है, उसमें जीवन और मृत्यु के सतत गतिशील चक्र की अचूक पर कोमल व्यंजना होती है। और इस चक्र में उल्लास या विषाद का भाव नहीं वरन् चलने की प्रक्रिया ही प्रमुख है। यह व्यंजना छोटे-से क्रिया प्रयोग गा से उभरती है। यह ध्यान देने की बात है कि सकलित दोनों बिंब विधानों में केन्द्रीय शब्द प्रयोग 'ढइअ' और 'गा' ठेठ अवधी के हैं। इससे जायसी की अपनी आधार काव्यभाषा संबंधी क्षमता और आत्मविश्वास की भावना प्रकट होती है। यह इसलिए भी कि कवि संज्ञा और क्रिया दोनों प्रकार के शब्दों से अभीष्ट व्यंजना संभव करता है। उपर्युक्त बिम्ब विधान के केन्द्र में एक जगह मना शब्द है और दूसरी जगह क्रिया।

सूरदास

४७ ब्रजभाषा हिंदी की मध्यकालीन काव्यभाषा का सर्वश्रेष्ठ रूप मानी जा सकती है देश और काल दोनों दृष्टियों से उसका प्रसार भी सर्वाधिक रहा। फिर ब्रजभाषा के प्रयोग में सूर का स्थान शीर्षस्थ है। इस दृष्टि से सूर की काव्यभाषा हिंदी की मध्यकालीन काव्यभाषा के अध्ययन के केन्द्र में आती है। स्वभावत विवेचन के इस अंश का हमारे लिए विशिष्ट महत्त्व है।

४८ मध्यकालीन संदर्भ में सूर की काव्यभाषा का परीक्षण करते समय एक बात हमारे सामने उभर कर यह आती है कि तत्सम शब्दावली की दृष्टि से सूर और तुलसी की भाषा एक तरह की है कबीर और जायसी की भाषा दूसरी तरह चलती है। सूर और तुलसी की भाषा में संस्कृत परंपराओं के प्रति आदर और विनम्रता है तथा संस्कृत शब्दावली के प्रति उन्मुखता है। कबीर संस्कृत परंपरा और शब्दावली के प्रति खुली उपेक्षा रखते हैं जायसी में अनभिज्ञता की मुद्रा है। इस तरह सूर और तुलसी में संस्कृत शब्दावली का जड़ाव एक अपना सौष्ठव रखता है जब कि कबीर और जायसी में तद्भवता की लड़खड़ाहट और मिठास है। सूर और तुलसी की अपनी तुलना में तुलसी ने आरंभ में मंगला-

सोभित मनु अंबुज-पराग रुचि रंजित मधुप सुदेस।
कुंडल किरनि कपोल-लोल छबि नैन कमल-दल मीन।
प्रति प्रति अंग अनंग-कोटि छबि सुनि सखि परम प्रबीन।
अधर मधुर मुसुक्यानि मनोहर करति मदन मन हीन।
सूरदास जहँ दृष्टि परति है होति तहीं लवलीन॥

मैया बहुत बुरौ बलदाऊ।
कहन लग्यौ बन बड़ौ तमासौ सब मौड़ा मिलि आऊ।
मोहूँ कौं चुचकारि गयौ लै जहाँ सघन बन झाऊ।
भागि चल्यौ कहि गयौ उहाँ तें काटि खाइ रे हाऊ।
हौं डरपौं, काँपौं अरु रोवौं कोउ नहिं धीर धराऊ।
थरसि गयौ नहिं भागि सकौं व भागे जात अगाऊ।
मो सों कहत मोल कौ लीनौ आपु कहावत साऊ।
सूरदास बल बड़ो चबाई तैसेहिं मिले सखाऊ॥

इन दो पदों की सामान्य तुलना से ही दोनों की भाषिक प्रक्रिया का अंतर स्पष्ट हो जाता है। स्थिर शोभा वर्णन के पहले पद में तत्समों-अर्द्धतत्समों की भरमार है, वाक्य विन्यास काफी सीमा तक संस्कृत जैसा सामासिक है और इस तत्सम शब्दावली के आधार पर परंपरित ढंग का विस्तृत अलंकार विधान तैयार हुआ है। दूसरा पद चेष्टा वर्णन का है जो आरंभ से ही गत्यात्मक है। यहाँ तत्सम शब्द प्रायः नहीं हैं, तद्भव और ठेठ प्रयोगों की व्याप्ति है और समास शैली का प्रयोग नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त ब्रज के औकारांत शब्दों का बाहुल्य है—संज्ञा, विशेषण, क्रिया—सभी रूपों में। फिर बालकृष्ण की चेष्टाओं का स्वाभाविक और अनलंकृत चित्रण है। भाषिक प्रयोग और संवेदना दोनों ही दृष्टियों में पहले पद में कृष्ण का तत्सम रूप है और दूसरे में तद्भव। कहना न होगा कि अधिक काव्यात्मक प्रसंग दूसरी कोटि में ही आते हैं।

५२ रूप या शोभा वर्णन के प्रसंगों में एक ओर भाषा का रूप तत्सम प्रिय हो जाता है—संज्ञाओं से क्रिया तक तत्सम पर आधारित हो जाता है (उदाहरणार्थ निम्न ३।१८०)—दूसरी ओर परंपरागत अप्रस्तुत विधानों के बीच से बिंब-योजना आरंभ होती है यद्यपि इनके पीछे सहारा बहुत बार सांग रूपक या उत्प्रेक्षा का रहता है। इसीलिए तत्सम शब्दावली में यहाँ शोभा वर्णन के बिंब प्रयोग प्राय प्राचीन शैली के अलंकारों से आच्छादित हैं। सूर के बिंबों की वास्तविक क्षमता स्वतंत्र प्रसंगों में अधिक द्रष्टव्य है।

का भाव देती है, और दूसरी ओर अर्थ-छायाओं का सटीक प्रयोग संभव करती है। रचना में सम्प्रेषण की दृष्टि से ये मूलभूत गुण हैं। यहां ठेठ प्रयोगों के कुछ चुने हुए उदाहरण प्रस्तुत हैं। पाठ का आधार धीरेन्द्र वर्मा द्वारा संपादित 'सूरसागर-सार' है जो स्वयं सभा के संस्करण पर आधारित है। जहां उद्धरण के साथ अंक दिए हुए हैं वे 'सूरसागर सार' की पद-संख्या के द्योतक हैं—

करत अचगरी नंद महर कौं (कौ का अर्थ का घटा) ३ ११०
दिया बाति जनु मिलकी (प्रज्वलित हुई) ५ ८३ सुरति स्याम की आई (स्मृति) ५ ९९ दियो तुरत पल्नाह (लाद दिया) ६ २३ ब्यौत (व्यवस्था) ६ १२८ देघाली (दे भेजी) ६ १६७ कोने (के स्थान पर) ७ ३१

इन शब्दों और प्रयोगों में ब्रज भाषा की ठेठ प्रकृति का बड़े गात भाव से साक्षात्कार होता है, जो जन-जन में प्रचलित कृष्ण भक्ति की संवेदना को प्रगाढ़ करता है। कहीं-कहीं तो तद्भव प्रयोग बड़े विलक्षण पर उतने ही सटीक भी हैं। कृष्ण की शरारतों के प्रसंग में, उदाहरण के लिए निर्दोष से बदतर शब्द गढ़ा गया है अनदोषे अनदोषें कौ दोष लगावति २।८८। निर्दोष में दोष से छुटकारे की बात है पर अनदोषे में दोष ही अकल्प्य है। ऐसा ही प्रयोग लावण्य रहित के अर्थ में 'बिलोनी' (४ १३) का है।

५१ तत्सम शब्दावली कृष्ण के सौंदर्य वर्णनों में अपेक्षया अधिक है। यहाँ रूप और शोभा वर्णन के प्रसंगों में कवि परंपरानुमोदित अलंकार विधान का प्रयोग करता है, और इसीलिए पूर्व प्रचलित तत्सम शब्दावली का सहारा अधिक लेता है। इसके विपरीत जहां बाल या युवा कृष्ण की विविध चेष्टाओं के प्रसंग हैं वहां तत्सम शब्दावली बहुत हल्की है और प्रधानतः तद्भवों की है। स्थिर वर्णनों के लिए तत्सम और गत्यात्मक वर्णन के लिए तद्भव ऐसा कुछ सजग चुनाव कवि की ओर से जान पड़ता है। इससे सूर की वर्णन कुशलता तो झलकती ही है तत्सम और तद्भव शब्दावली की अपनी प्रकृति और रचना-क्षमता पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। तत्सम शब्दों में अर्थ का स्थिर रूप है, तद्भव में अर्थ छाया गत्यात्मक है। यहां दोनों प्रकार के उदाहरणों से बात अधिक स्पष्ट होगी—

सोभा कहत कहे नहिं आवै।
अँचवत अति आतुर लोचन-पुट मन न तृप्ति कौं पावै।
सजल मेघ घनस्याम सुभग बपु तडित बसन बनमाल।
सिखि सिखंड बन धातु बिराजत सुमन सुगंध प्रवाल।
कछुक कुटिल कमनीय सघन सिर गो रज-मंडित केस।

भाषा के विचार में उभरने लगता है अर्थात् बिंब और बिंब सापेक्ष संरचना पुष्ट होते हैं।

५४ एक दूसरा बिंब कुब्जा प्रसंग से लें। कुबड़ी कुरूप कुब्जा को रूपवान कृष्ण के मन में ग्राह्य बनाना संवेदना के स्तर पर एक कठिन काम है। यों कृष्ण परब्रह्म के अवतार हैं और वे जिस पर चाहें जिस रूप में कृपा कर सकते हैं। पर अनिंद्य सौंदर्य से युक्त कृष्ण मनुष्य रूप में भी हैं और कुरूप कुब्जा कैसे उन्हें भा गई इसका कोई संतोषजनक और विश्वसनीय समाधान काव्य की रचना प्रक्रिया के स्तर पर कवि को देना है। कृष्ण चरित के प्रमुख गायक सूरदास का यह और भी प्रधान दायित्व हो जाता है। कृष्ण और कुब्जा के इस अटपटे दीखते संबंध को कवि ने एक बिंब के बीच में अंकित किया है। कुब्जा गोपियों को पत्र लिखती है—

हौं तो दासी कंसराइ की, देखौ मनहिं बिचारी
फलनि मांझ ज्यों करुइ तोमरी, रहत घुरे पर डारी
अब तौ हाथ परी जंत्री के, बाजत राग दुलारी
तनु तें टेढ़ी सब कोउ जानत, परसि भई अधिकारी
सूरदास स्वामी करुनामय, अपने हाथ सँवारी। (६ १७)

यहाँ देखा जा सकता है कि कवि ने किस प्रकार सांग रूपक के विधान को अस्वीकार कर दिया है। कवि द्वारा थोड़े से अंतर से सांग रूपक के अंतर्गत तोमरी की कड़ुआहट टेढ़ापन उसका तिरस्कृत होना फिर किसी वादक के हाथ पड़ कर उसका बीन होकर मीठा राग प्रसारित करना—ये सब तत्त्व क्रमश तुलनीय हो सकते थे कुब्जा की कुरूपता उसका विकृतांग होना समाज में तिरस्कृत होना, फिर कृष्ण के अनुग्रह से उसमें सौंदर्य विकसित होने से। पर सूर पहली पंक्ति में प्रस्तुत का उल्लेख कर के छोड़ देते हैं और फिर धीरे धीरे कड़ुई तोमरी का बीन में रूपांतरित होने का बिंब उभरता है। तब हम कृष्ण और कुब्जा के निकट संबंध को अधिक गहरे और संवेदनात्मक स्तर पर ग्रहण करते हैं। कुब्जा की कुरूपता बीन की सुर लहरी में विलीन हो जाती है।

५५ सूर के बिंब विधान में से अनचुका चुना हुआ एक और प्रसंग है। गोपियाँ उद्धव के योग संदेश का अस्वीकार कर देती हैं। पर यह अस्वीकार ऐसा होना चाहिए जिससे कि उद्धव का अपमान न हो और कृष्ण के लिए भी कोई संकोच की स्थिति न उत्पन्न हो साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाए कि यह योग संदेश गोपियों को एकदम अग्राह्य है। इस जटिल और सुकुमार मन स्थिति को एक विशिष्ट बिंब में से निर्मित किया गया है—

५३ रचना की भाषिक प्रक्रिया म बिंब की क्षमता जटिल अनुभूतियो के सूक्ष्म अकन म अच्छी तरह समझी जा सकती है। जसा कहा जा चुका है बिंब की मुख्य प्रक्रिया दश्य तत्त्वो को उभारने म उतनी निहित नही जितनी कि किसी जटिल और गतिशील भाव का अथ की द्वन्द्वात्मक शक्ति स परिचालित कर देन म है। इसी माने म बिंब मूलत अथ सश्लेष है। गापी के प्रणय की व्याकुलता का अकन है—

सदा रहै मन चाक चढयौ, सो और न कछू सुहाइ
करत उपाइ बहुत मिलिबे कौं, यहै बिचारत जाइ
सूर सकल लागत ऐसीय, सो दुख कासौं कहिये
ज्यौं अचेत बालक की बेदन, अपन ही तन सहिये। (४५७)

यहा पहली पक्ति म मन की अस्थिरता और व्याकुलता को व्यक्त करने क लिए पहल घूमन वाले चाक का एक प्रचलित अप्रस्तुत लिया गया है। पर बहुप्रचलित और रूढ होन क कारण यह अप्रस्तुत बिंब के रूप म सक्रमित नही हा पाता यद्यपि मन की सूक्ष्म प्रक्रिया को रूपायित करने क लिए वह एक उचित दश्य उपकरण है। अथ-सश्लेष के रूप म बिंब की असली शक्ति अतिम पक्ति म अनुभूत हाती है। मन की व्याकुलता जिसे चपचाप अपने आप सहना है का अकित करन के लिए पीडित पर अचेत बालक का बिंब विकसित किया गया है। इस बिंब म सारी स्थिति की पीडा निरीहता निर्दोषता और साथ ही अवशता का जो द्वन्द्व एक साथ उभरता है वह गापियो के सरल निश्छल पर मर्मातक पीडा देने वाले प्रणय को पूरी बारीकी और सुकुमारता म अकित कर देता है और अथ प्रक्रिया कही पूरी हाकर खत्म होती नही जान पडती वरन निरतर विकसनशील लगती है। पहली और चौथी पक्ति का अतर यहा स्पष्ट हो जाता है। सदा रहै मन चाक चढयौ म एक बहुप्रचलित अप्रस्तुत हान के कारण अथ की सूक्ष्मता और गति नही है। घूमने की एक हा क्रिया का सकतित करन के कारण यहा अथ का द्वन्द्व नही चलता। चाक चढयौ इसीलिए बिंब नही बनता, एक मुहाविरा जमा होकर रह जाता है जिसम दश्यमयता है सश्लिष्टता नही। पर अतिम पक्ति म बालक की पीडा निरीहता निर्दोषता आदि के अनुभव एक दूसर स टकरा कर एक सूक्ष्म प्रक्रिया का परिचालित करत हैं और इस प्रकार बिंब की अपनी क्षमता को उन्मुक्त करते हैं। और तब यह बिंब पूरे पद म अलग थलग अप्रस्तुत विधान नही लगता वरन चुपक स समूची भाषा का अग बन जाता है। काव्यभाषा की बनावट म पौराणिक सदभ और मिथ का जा अतर है वसा ही अतर अलकार और बिंब के बीच म है। सदभ और अलकार

शुक्ल ने लिखा है "साहित्य प्रसिद्ध उपमानो का लेकर सूर ने बडी-बडी क्रीडाएँ की है। कही उनको लेकर रूपकातिशयोक्ति द्वारा अदभुत एक अनूपम बाग लगाया है कही जब जसा जी चाहा है उन्ह सगत सिद्ध करके दिखा दिया है कही असगत। (त्रिवेणी पृ० ९५)

५८ पर चमत्कारप्रियता और अत्युक्ति की इन प्रवत्तिया के बावजूद सूर की काव्यभाषा का मल स्वर मितकथन का ही है। शब्दा और प्रयोगा क अतिरजित प्रभाव को न ग्रहण करके उन्होने प्राय उनकी हल्की छायाओ को उभारा है। मितकथन की यह प्रक्रिया कई स्तरा पर देखी जा सकती है। सामान्य शब्द प्रयोग के रूप म रामचरित से सबद्ध पदा म सीता प्रचलित नाम त्रिजटा को त्रिजटी कह कर (प ९) मानो अपन हृदय की कोमलता पीडा और आत्मीयता को अधिक सप्रेषित कर पाती है। इसी प्रकार राम के आगमन की प्रतीक्षा म सगुन मनाती हुई कौसल्या काग स कहती हैं— दधि-ओदन दोना भरि देहौ अरु भाइनि मैं थपिहौ (प० १६)। मालका पूजन म काग का अकन बहुत सी स्त्रिया करती हैं। इसमे बडा सम्मान और क्या दिया जा सकता है? व्रज क्षेत्र म प्रचलित लोक जीवन की इस मधुर प्रक्रिया का कवि न बडा सवेदनशील उल्लेख किया है।

५९ एक अत्यन्त कोमल प्रसग वहाँ आता है जब कृष्ण उद्धव को व्रज भेजने के पूर्व वहा के निवासिया का सक्षिप्त परिचय देते है—

पहिल प्रनाम नदराइ सौं।
ता पाछें मेरो पालागन, कहियो जसुमति माइ सौं॥

मित्र एक मन बसत हमारें, ताहि मिलें सुख पाइहौ
करि करि समाधान नीकी बिधि, मोको माथो नाइहौ। (६२०)

कृष्ण ने अपने जिस एक मित्र का नामोल्लेख तक नही किया उसकी व्याख्या का प्रयत्न काव्यभाषा क स्तर पर अन्याय जसा लगता है। सूर द्वारा मित्र शब्द का ऐसा प्रयोग आधुनिक छायावादी काव्यभाषा का स्मरण दिला देता है—

शशि-मुख पर घूघट डाले
अचल मे दीप छिपाए
जीवन की गोधूली म
कौतूहल से तुम आए! (आँसू, पृ० १९)

पुल्लिग और स्त्रीलिंग रूपो का यह सश्लेष कुछ छिपाने के लिए नही है,

साँवरो (१ ६२) रानो (१४३) अचमो (१४८), दहियो (२५२), अधारो (३९८), व्यौरो (४८७) सँदेसो (५५८), मायो (६२२)।

अय —चरन (११) कमल (११), हरि (११), राइ (११), कृपा (११), पगु (११) गिरि (११), रक (११) सिर (११), छत्र (११) स्वामी (११) कर (प१८) बान (प१८) प्रतिना (प१८) अमुर (प१८) जननि (प१६) सगुनौती (प१६), पाँखि (प१६)।

अपवाद रूप म कही कही अवधी भोजपुरी की तरह दीघ रूप भी मिल जात है—मारवा (५९८)

औकारात रूपो की प्रमुखता केवल सनाआ म ही नहा बल्की विशेषण और क्रिया के भूतकालिक कृदन्त रूपा म भी द्रष्टव्य है—कहन लग्यो बन बड़ो तमासो (३१२)। यहाँ स्मरणीय है कि देवनागरी लिपि म बहुप्रचलित औ लिपि चिह्न का ब्रज क अर्द्धविवत मूल स्वर उच्चारण की ध्वन्यात्मक दृष्टि से सही रूप होगा ऑ।

६३ सवनाम—

हौ (१५), मैं (१३३) मो (१११) हम (१२६)
तुम (१९) तुव (१११) त (१३३) तू (२३३) तो (२९°)
आपु (१९)
व (३१२) वा (३४४) वा (३६७) वह (३६७)
जा (११) जिहिं (१९) यह (११०) इन (१२८) या (३६३)
य (८११५)
जो (१२) जे (११७)
सौ (१२) सु (१२०)
ता (१८) तिन (२३०) तिहि (११)
कौन (१५) को (१७) कोऊ (११०) किहिं (११०)
काहू (१३०) का (१६७) कहा (२१६) किन (८१५१)

६४ विशेषण—

बली वडौ (११०) आछौ (११९) नीको (१२२) मलौ (१२८)
रीतौ (१४४) नयौ (१५०) मीठौ (२२९) खाटो (२२९)
सगरौ (२६१)
अय सव (११) अधम (१६३), मवर (२३७) दन (३८८)
वडे (८३७)।

वरन सवेगा की सुकुमारता व्यंजित करने के लिए है। प्रसाद ने कहीं-कहीं ऐसी ही स्थिति में 'अतिथि' शब्द का भी प्रयोग किया है।

६० मितकथन की भाषा, और उससे भी अधिक मुद्रा का एक बढ़िया उदाहरण सूर के रुक्का प्रसंग में मिलता है। रामचरित वाले अंश का पद है—

बिनती किहिँ बिधि प्रभुहिँ सुनाऊँ?
महाराज रघुबीर धीर कौं, समय न कबहूँ पाऊँ!
जाम रहत जामिनि के बीतें, तिहिँ औसर उठि धाऊँ।
सकुच होत सुकुमार नींद मैं, कसैं प्रभुहि जगाऊँ।
दिनकर किरननि-उदित, ब्रह्मादिक-रुद्रादिक इक ठाऊँ।
अगनित भीर अमर मुनि गन की, तिहिँ त ठौर न पाऊँ।
उठत सभा दिन मधि, सनापति भीर देखि, फिरि जाऊँ।
न्हात खात सुख करत साहिबी, कसैं करि अनखाऊँ।
रजनी-मुख आवत गुन-गावत, नारद तुंबुर नाऊँ।
तुमहीं कहौ कृपानिधि रघुपति, किहिं गिनती म आऊँ?
एक उपाउ करौ कमलापति, कहौ तौ कहि समुझाऊँ।
पतित उधारन नाम सूर प्रभु, यह रुक्का पहुँचाऊँ। (प० १८)

यहां कुछ भी न कह पाने की मुद्रा जैसे सब कुछ कह देती है। इस दृष्टि से सूर का यह रुक्का तुलसी की 'पत्रिका' (विनयपत्रिका छं० २७७ ७८ ७९) की तुलना में अधिक कोमल है यद्यपि सूर यहां राम को संबोधित कर रहे हैं जो तुलसी का क्षेत्र है। मितकथन की समस्या से कबीर और तुलसी भी जूझे हैं अपने अपने ढंग से—बोलत बानी तत्त नसाई (कबीर ग्रंथावली—प० ६१) कहु बिन न्हात न परत कहे राम। रस न रहत' (विनयपत्रिका २५६)। पर सूर ने तो उपर्युक्त पद में कहने और न कहने के बीच की भाषिक प्रक्रिया रचना के स्तर पर प्रदर्शित ही कर दी है। बिनती सुनाने में जो सकोच और कठिनाइया है उन्हें गिनाते गिनाते विनती स्वयं कह दी गई है।

६१ अभी तक हमने सूर की काव्यभाषा के सर्जनात्मक पक्ष का विवेचन किया। अब काव्यभाषा के आधार रूप का संक्षिप्त व्याकरणिक विश्लेषण अपेक्षित होगा।

६२ संज्ञा—संज्ञा के अविकारी बली रूप ब्रज की परंपरानुसार औकारांत हैं। ये बली रूप अपनी प्रकृति में प्राय तद्भव हैं, अन्य रूपों में तत्सम अर्द्ध-तत्सम तथा विदेशी प्रमुख हैं। उदाहरणार्थ कुछ रूप प्रस्तुत हैं—

बली —बाना (१५) पानी (१५), टीकौ (१२२), समौ (१३८)

६७ परसर्गों के ये सश्लिष्ट प्रयोग अथवा परसर्ग रहित प्रयोग वस्तुत भाषा की अभिव्यक्ति सामर्थ्य के द्योतक हैं और परसर्गों के विषय में यह सामर्थ्य भाषा के प्रवाह तथा भगिमा से सभव होती है। उपर्युक्त सश्लिष्ट प्रयोगों का क्रमबद्ध रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

कर्म—ऐ ए हिं नि
करण—नि ऐ
सप्रदान—ऐ
अधिकरण—ऐ नि

६८ इन परसर्गों में या कि सश्लिष्ट होने के कारण इन्हें सस्कृत ढग की विभक्ति भी कह सकते हैं हि या हिं के सबध में रामचन्द्र शुक्ल का पर्यवेक्षण महत्वपूर्ण है। *जायसी ग्रथावली की भूमिका में जायसी की भाषा पर विचार* करते हुए वे लिखते हैं— किसी समय सबध की हि विभक्ति से सब कारकों का काम लिया जाता था पीछे वह कर्म और सप्रदान में नियत सी हो गई। इस हि या ह विभक्ति का सब कारकों में प्रयोग जायसी और तुलसी दोनों की रचनाओं में देखा जाता है। (पृ० १०६) जायसी और तुलसी की तुलना में सूर की भाषा में इन सश्लिष्ट परसर्गों या विभक्तियों का वैविध्य स्पष्ट ही अधिक है और सूर ने हि को केवल कर्म-सप्रदान के लिए प्रयुक्त किया है।

६९ क्रिया

सहायक क्रिया—हौ (१ २१) हौ (८ २८) है (१ १०) है (१ ३)
हुते (६ १) हुती (१ ३६) ती (७ १९)
हुतौ (२ ३०) हो (थी ३ १३७) ह (वे ८७) आहि (४ १०९)
आहि (प ५)

यहां अतिम दोनों रूप अवधी के प्रयुक्त हुए हैं। रामचरित के पदों में आया हुआ आहि का प्रयोग तुलसी के ग्राम-वधूटी प्रसग का स्मरण दिला देता है। इनमें का पति आहि तिहारे (सूरदास) सुमुखि कहहु को आहि तुम्हार (तुलसीदास)।

७० **मूल काल**—काफी सख्या में मूल काल के प्रयोग अवश्य वर्तमान-कालिक कृदन्त में सभव हुए हैं। जसे हरषति चितवत किलकत (२ १३)। *कहीं-कहीं अकेले भूतकालिक कृदन्त का प्रयोग वर्तमान का भाव द्योतित करने* के लिए किया गया है उदाहरणार्थ—काली उगलै रहै जमुना में उरग करै तहँ घात (३ १०)

७१ मूल काल के कुछ सामान्य प्रयोग इस प्रकार हैं—कर्यौ (१ १),

६५ परसग—

कम-सप्रदान अवे कौ (१ १), मो कौं माधौ नाइहो (मेरे लिए—सप्रदान के अथ म 'कौं' का प्रयोग—६।२०), फल कौं (१ २),
तुम सौं (१ ११) काल ब्याल प (१ ४२) दहरि लौं (२ २१)
करण मो पै (२ ३) गुन करि (६ ८२)
अपादान ता त (१ ८)
सबध गरीवनि हूं के (१ ८) जा की (१ १) प्रान जिवन सब केरे (५ ४१)
अधिकरण राजसूय म (१ ५), पाडव क (१ ८) जा पर (१ १०), मन माहि (८ ८४) प्रिय पहियाँ (४ १५५) माहिनि प (४ १५५),
अन्य परसग रूप—वहँ लगि (१ ५) ग्वालनि हेत (१ ७) घर माझ (१ ४२) कब धौं (२ १२) जँवरा तर (२ १९) मुख तन (२ ५०)
आधुनिक भाषावनानिका द्वारा पश्चिमी हिंदी-पूर्वी हिंदी के भेदक रूप म बहुचर्चित कर्त्ता कारक का परसग-ने यहा (और कवीर म भी) अनुपस्थित है।

६६ परसर्गों के सश्लिष्ट रूप ब्रज की एक प्रमुख विशेपता हैं। सूर की ब्रजभाषा म भी इन रूपा का बहुतायत से प्रयोग हुआ है। यहा कुछ उदाहरण नीच दिए जा रहे हैं—

ज्या गूग मीठे फल कौ रस (कम १ २) ठिनक माहिं उर नखनि विदारयौ (करण-१ ७) आवत गाढ काम (अधिकरण—१ ८) जा सुख होत गुपालहिं गाएँ (कम, और दूसर प्रयाग म क्रियाथक सना म सश्लिष्ट करण का परसग—१ १६) अब क राखि लेहु भगवान (सबध के परसग म अधिकरण का रूप सश्लिष्ट—१ १८) अपने भरोसें लरिहौ (करण—१ २१) स्रवननि तुलसादल (अधिकरण—१ २६), होत कहा अब के पछिताएँ (क्रियाथक सना स सश्लिष्ट करण का परसग १ ३६), कन कन कौं चोहट नचायौ (अधिकरण—१ ८२) सुपनें ज्या डहकानौ (अधिकरण १ ८३), भ्रमि भ्रमि जमहिं हँसाव (कम—१ ८८) द्वारें भीर (अधिकरण—२ ४), जसादा हरि पालनें झुलाव (अधिकरण २ ७), ताहिं मँगावत (कम—२ २९), आपु गए हरएँ सूने घर (क्रियाविशेषण स सश्लिष्ट करण का परसग—२ ४६), लाजनि सकुचि जात मुख मरा (करण—२ ७१) गाढ़ें बोलि न पावत काऊ (क्रियाविशेषण स सश्लिष्ट करण का परसग—३ १५) घामें राखी डारि (अधिकरण—३ ५०) बसुधा भार-उतारन-काज (सप्रदान—३ ७७), भक्तनि प्रान अधारौ (कम—३ ९८), प्रात होत मेरे लाल लडत (कम—५ ५८)

परसग रहित प्रयोग—गव सहित आयौ ब्रज बोरन (३ ७५)

भावना। या ये दोना प्रक्रियाएँ परस्पर सबद्ध है। भाषा के प्रवाह म शब्द और प्रयोगो को गढ सकना किसी भी कवि के लिए उसकी रचना सामथ्य का द्योतक है। इस दष्टि से नामधातु और सयुक्त क्रियाएँ व्याकरण और मुहाविरे के सधि स्थल पर निर्मित होती हैं। नामधातु और सयुक्त क्रिया जितने व्याकरण के तत्त्व हैं उतने ही शली या मुहाविरे के भी। सूर ने इस तरह अपने क्रिया प्रयोगा को रचना के सदभ म बहुत उपयुक्त रूप म गढा है। सास्कृतिक सदर्भो से सरक्त नामवाची शब्दावली अप्रस्तुत विधान और बिंब योजना के लिए उचित आधारभूत तत्त्व है और क्रियावाची प्रयोग भाषा म मुहाविरे का हल्का प्रवाह उत्पन्न करते ह(सनाआ पर निर्मित बडे मुहाविरे गद्य भाषा म कुछ खप भी जाएँ कविता की भाषा म तो मूल सवदना से ध्यान विकद्रित ही करते है। उर्दू शायरी म भी कुशल प्रयोग क्रियाआ या छोटे अव्यय शब्दो स बन हल्के मुहाविरो के मान जात है न कि सज्ञा आधारित लबे मुहाविरा के)[१]। सूर ने काव्य भाषा की सजन प्रक्रिया म सना और क्रियाआ का इस दष्टि स बहुत सही और साथक प्रयोग किया है।

७६ कृदत—कपट **करि** (१ ३) **मारन** आई (१ ३), **करिब** (१ २२) **उधरत नाथ** पुकारी (१ २७) भ्रमत भ्रमत (१ ३६), कर **कह्यौ** न मानत (१ ३७) तई ल खोपरी (१ ३९) सिर **धुनि धुनि** पछितायौ (१ ४५), सा सर **छाडि** (१ ४६) मिल्वि की **तरसनि** (२ १७) तुरत **मथ्यौ** दधि माखन पायौ (२ ४६) ताहूँ के **खबे-पीबे कौं** (२ २६) बन त आवत धनु **चराए** (३ ११) न इहि पथ **ऐबौ** (३ ९८) मेरे कह मैं कोउ नाहिं (३ १३८) **लन सौ** इहाँ सिधारे (५ २०) **चलत** गुपाल क सब चल (५ ६०)

७७ यह पहले ही कहा जा चुका है कि सूर की भाषा म अनेक स्थला पर अकत कृदन्त क्रिया के पूरे रूपा की तरह प्रयुक्त हुए हैं।

७८ अव्यय—

पुनि (१ १) बार-बार (१ १) न (१ २) ही (१ २) कित (१ २) बिनु (१ ३) नाई (१ ३) मौं (१ ८) क (१ ५) जहँ-जहँ (१ ९), जहँ तहँ (१ ९) फिरि फिरि (१ १०) कत (१ २१) तौ (१ २२) क्यो (१ २५)

---

१ तुलना कीजिए ग़ालिब की पक्तियो म दोना तरह के प्रयोग। सज्ञा पर आधारित मुहाविरा—'मुफ्त हाथ आये, तो बुरा क्या है।' क्रिया या अव्यय से बना मुहाविरा—'कोई बतलाओ कि हम बतलायें क्या', हम कहाँ के दाना थे।'

लघ (१ १) दरसाइ (१ १) सुन (१ १), वोल (१ १), चल (१ १) घराइ (१ १) जाव (१ २), आई (१ ३) दखौ (१ ४) मानत (१ ४) उवारयौ (१ ५), छुडायौ (१ ९), डर (१ १०), सुनौ (१ ११) लीन्हे (१ ११), टरिहौ (१ २१), दुहाव (१ २५) रह्यौ (१ २७), पछितहा (१ २७)। सह्य (१ ३१) पतिआइ (१ ३१), खोए (१ ३२), कीनो (१ ३३) भजिए (१ ३८) करिय (१ ३९), खहे (१ ३९), गीध्यौ (१ ४२) सिरानौ (१ ४३) बधत (१ ४४), दिखराऊँ (१ ४७) जयतु (२ ४७), परान (२ ५८) सिखा वहु (३ २) कहियौ (३ २०) परवान्यौ (३ ७६) तरागी (३ ८२), नाग्यौ (३ ९४) दीज (३ ९५) पठाइ (३ १००) लजानी (३ १५१), विकाने (३ १६३) कहवहौ (४ ३७), ककोरत (४ ७७) प्रासी संस्कृत तत्सम न सीधे बना क्रिया रूप (४ ८९) कीज (आदराथ ४ १५४) हाव (५ २०), जियौ (५ ३०) जीजै (५ ४०)

७२ **नामधातु**—सूरसागर म नामधातु के काफी सख्या म और अच्छे प्रभावशाली प्रयोग मिल्त है—पतखर (१ ३१) अगानी (१ ४७) घिनह (१ ३९) विरोधे (१ ४०) गरबानौ (१ ४३) रिमात (२ ५७) नसायौ (संस्कृत से सीधे नामधातु २ ६५) अधिकहे (३ १६१) जतुराभी (४ १२४), आदर अपमान (४ १३३) सगुनाव (६ २५)।

७३ **प्रेरणार्थक**—वरनावत (५ ६५)

७४ **सयुक्त क्रिया**—सयुक्त क्रिया क प्रयाग सूर की भापा म प्रायिक है—चलि आयौ (१ ५), लिय डोलति (१ ११) राखि लेहु (१ १८), उघरि नच्यौ चाहत हा (१ २१), दूरि करौ (१ २३) जात टरौ (१ २४), ठानी हुती (१ ३६), चाखन लाग्यौ (१ ४५), सूघि फिरयौ (१ ५३) सुनि आई २ ४), दिवावति डोलति (२ १४) वजावन द (४ ५२) डन्ति फिरौं (३ ९४), ठगत फिरति (३ १२४) लीन्हे आवत हौ (४ ८१), जानि लीन्हौ (४ ९०) जानि क (४ १२४) उठि आवत है (४ १३२) धँसि रहौ (५ १५) जरी जात (५ ४३) मुरति करत (५ ४४) डसि गया (५ ४४) दियौ परनाइ (६ २३)

७५ नामधातु और सयुक्त क्रिया का दृष्टि से सूर का भाषा प्रयाग उनक समकालीना की तुलना म कही अधिक विकसित है तान और चार तत्त्वो तक से बनी सयुक्त क्रियाए मिलती हैं—उठि आवत हैं (४ १३२) उघरि नच्यौ चाहत हौ (१ २१)। इस स एक ओर तत्कालीन ब्रजभाषा की अपनी क्षमता प्रमाणित होती है और दूसरी ओर सूर की रचना-स्तर पर आत्म विश्वास

कहना है 'कविता की भाषा समूचे इंगलैंड में किसी सीमा तक एक ही रही जान पड़ती है कुछ मिलाकर एक कृत्रिम ढंग की बोली, जिसमें देश के उन सभी भागों के शब्द घुल मिल गए जहाँ कविता लिखी जाती है कुछ कुछ वैसे ही जैसे होमर की भाषा ग्रीस में विकसित हुई थी।' (वही पृ० ५१) हिंदी की मध्यकालीन काव्यभाषा के विश्लेषण के प्रसंग में यस्पसन की यह बात अनायास याद हो जाती है। कबीर जायसी सूर तुलसी सभी ने इस कृत्रिम बोली का प्रयोग अपने काव्य में किया है। यह पहले ही संकेत किया जा चुका है कि प्राचीन और मध्यकाल में काव्यभाषा की यह कृत्रिमता अपेक्षया अधिक थी। हाँ अंग्रेज़ी और हिंदी की काव्यभाषा में एक मौलिक अंतर है। अंग्रेज़ी काव्यभाषा में इंगलैंड के छोटे से देश के विभिन्न भागों के शब्द घुल मिल गए हैं पर हिंदी काव्यभाषा मध्यदेश के अपने व्यापक क्षेत्र की कई बोलियों को अलग अलग आधार रूप में प्रयुक्त करती है। समूचे मध्यकाल में व्यापक काव्यभाषा का मौलिक स्वरूप एक ही रहा यद्यपि उसके आधार अलग-अलग थे—खड़ी बोली ब्रज अवधी—ऐसी बोलियाँ जिनका व्याकरणात्मक गठन एक दूसरे से भिन्न था और है। इसीलिए खड़ी बोली ब्रज अवधी की अलग-अलग बोलियों के आधारों पर विकसित करने पर भी कबीर सूर तुलसी एक ही काव्यभाषा का प्रयोग करते दिखाई देते हैं। आधुनिक काल में स्थिति उलट गई है। अब खड़ी बोली के एक ही आधार पर दो काव्यभाषाओं का उदय हुआ है—हिंदी और उर्दू।

८१ काव्यभाषा और उसके आधारों के पारस्परिक संबंधों का बड़ा सटीक विवेचन तुलसी की काव्यभाषा के प्रसंग में किया जा सकता है। तुलसी ने स्वयं अपनी काव्यभाषा के दो स्वतंत्र आधार चुने हैं—अवधी और ब्रज। इन दो अलग अलग बोलियों पर विकसित तुलसी की काव्यभाषा क्या एक ही है और यदि एक ही है तो कैसे? इस मौलिक समस्या का यदि समुचित समाधान हम दे सकें तो हिंदी की मध्यकालीन काव्यभाषा की विशेषतः और समूची काव्यभाषा की सामान्यतः अच्छी व्याख्या की जा सकती है। क्योंकि हिंदी की काव्यभाषा जो एक व्यापक भौगोलिक क्षेत्र और कई जनपदों की काव्यभाषा रही है प्रायः एक सहस्र वर्षों के इतिहास में अपने आधार कई बार बदल चुकी है एवं एक ही युग में एक से अधिक आधार रख चुकी है—खड़ीबोली ब्रज अवधी और मैथिली जैसे आधार जिनकी व्युत्पत्ति और व्याकरणात्मक गठन अलग अलग माने जाते हैं।

८२ प्रस्तुत विवेचन में तुलसी की काव्यभाषा की परीक्षा इन आधारों और काव्यभाषा के संघटन के अंतर्संबंध की दृष्टि से करना अभीष्ट है क्योंकि यही मौलिक समस्या है। आधार अपेक्षाकृत निर्वैयक्तिक है और अधिकतर

नाहिन (बलायक निषध १ २७) जिनि (१ ३१) हूँ (१ ३२), जसौ (१ ४९) जनि (२ २२) जो (२ ८५) किन (२५१), कसौ (२५१) सौ (२५८), परस्पर (३ ६), जनि (३ १०) काहँ (२ ८६) एक (-ऐ प्रत्यय बलाथक है ३ ५२), कहा(३ १६७), जब त-प्रीति स्याम सौ कीन्ही (व्यग्याथ के लिए बलायक ४५७), यौं उनहिं चुराई (निश्चयायक ४ ७९) क्यौ करि (४ १०५), कियौं (४ १११), कौ व नारि (४ १११) ह्या (५ ४०) ली (५ ६४), तन (५ ११४), सकल ग्वालनि का मरौ कौतौ नटयौ (स्थान पर ६ २०) मति हिय बिग्व करौ सिय (प १०)।

तुलसीदास

७९ काव्यमाषा की प्रकृति के सबध म यह मनी विचारक मानत हैं कि प्रत्यक युग म काव्यभाषा और जनभाषा क बीच अतर रहता है। साथ ही यह प्रवत्ति भी मान्य है कि काव्यभाषा का आधार धीरे धारे बोलचाल की भाषा के निकट आ रहा है। *मध्यकाल और आधुनिक काल क आरभ म काव्य भाषाओं का आधार-* रूप बोलचाल की भाषा स दूर हटा हुआ था—क्रमश यह अतर कम हुआ है। इस स्थिति को प्रसिद्ध भाषावज्ञानिक और अपन क्षेत्र के अप्रतिम मौलिक चिंतक यस्पसन न इस प्रकार प्रस्तुत किया है कविता और गद्य के शब्द समूह के बीच का अतर विकसित भाषाओं की तुलना म प्राचीन और अविकसित भाषाओं म कहीं अधिक *था।* (ग्रोथ एड स्ट्रक्चर *आव* द इगलिश लग्वेज पृ० ५१) किन्तु इस प्रसग म यह स्मरणीय है कि आधुनिक काल म काव्यभाषा का आधार बोलचाल की भाषा के निकट आ जान पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों के बीच का अतर लुप्त हो गया है या कि निकट भविष्य म इसके लुप्त हो जान की सभावना है। क्योंकि गद्य और कविता क बीच का अतर सिर्फ शब्द-समूह का न होकर भाषा प्रयोग विधि का होता है। बोलचाल के शब्द अपना लेने पर भी कविता की भाषा उनका प्रयोग अपने ढग स करती है और कविता म अतत इस प्रयोग का ही महत्त्व है। इस दृष्टि से कविता की भाषा बोलचाल के निकट आ जान पर भी शब्द-समूह और वाक्य विन्यास दोनों ही क्षेत्रों म अपने *आप बोलचाल की भाषा नहीं बन सकती। वतमान स्थिति म कविता और गद्य* की विभाजक रेखा यह भाषा प्रयोग विधि ही है, जिसम शब्द समूह का अपना निरपेक्ष महत्त्व न होकर उसका प्रयोग विधि का महत्त्व होता है।

८० काव्यभाषा और जनभाषा या बोलचाल की भाषा क बीच का अतर समझ लेने पर हिन्दी का मध्यकालीन काव्यभाषा का विश्लेषण अपेक्षया सही सदभ म हो सकता है। प्राचीन अँग्रेजी काव्यभाषा की चर्चा करत हुए यस्पसन का

गुप्त का संस्करण) और विनयपत्रिका (गीता प्रेस) के शब्दों के सांख्यिकीय विश्लेषण के आधार पर कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत किए जा सकते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सभी शब्दों में तद्भव और ठेठ प्रयोग कम हैं अधिकतर संस्कृत की तत्सम तथा अर्द्धतत्सम शब्दावली व्यवहृत हुई है।

संज्ञा शब्दावली का एक सांख्यिकीय विश्लेषण प्रकट करता है कि रामचरितमानस अयोध्याकांड के अपने चौपाइयों सहित एक सौ दोहों में औसतन [illegible] शब्द तद्भव हैं और लगभग यही स्थिति विनयपत्रिका की है जहाँ औसतन एक पद में [illegible] तद्भव शब्द हैं। इस प्रकार तुलसी की संज्ञा शब्दावली का बड़ा अंश तत्सम तत्सम शब्दों से बना है जो रामचरितमानस की अवधी और विनयपत्रिका की ब्रजभाषा में एक जैसा है। इस एक समान शब्दावली के आधार पर ही कवि अपने अप्रस्तुत विधान को विकसित करता है और फलत उसकी स्थिति एक जैसी रहती है। तुलसी की अवधी और ब्रज का अंतर अधिकतर सर्वनामों परसर्गों और क्रिया रूपों में देखने को मिलता है। पर एक तो संज्ञा शब्दावली की तुलना में इनकी संख्या कम है और दूसरे काव्यभाषा के विधान में उनका रचनात्मक महत्त्व संज्ञा शब्दों जैसा नहीं है। इसीलिए ब्रज और अवधी के दो अलग आधारों पर विकसित होने पर भी तुलसी की काव्यभाषा का स्वरूप एक है। और इस साम्य पर आगे सोचा जा सकता है कि खड़ीबोली ब्रज अवधी आदि के आधारों पर बनी हिंदी की मध्यकालीन काव्यभाषा मूलत एक ही है।

८८ विनयपत्रिका की भाषा की विशेष चर्चा इस प्रसंग में होती है कि तुलसी की सभी मुख्य रचनाएँ अवधी में हैं विनयपत्रिका ऐसी है जिसकी काव्यभाषा का आधार ब्रज है। सूर अथवा तुलसी की काव्यभाषा का व्यावहारिक अध्ययन करते समय एक बार फिर यह स्मरण दिलाना प्रासंगिक होगा कि मध्यकालीन साहित्य के भाषा संबंधी विश्लेषण में उसकी पाठ-समस्या का तत्त्व विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए कहा जाता है कि सूरसागर की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में संज्ञा विशेषण क्रिया के जो रूप मिलते हैं और कुछ अन्यों में जो रूप। स्वभावत ऐसी स्थिति में पाठ संबंधी मौलिक खोज की अपेक्षा काव्यभाषा के अध्येता से नहीं की जा सकती वह तो प्राप्त संस्करणों में से जिसका पाठ सबसे अधिक प्रामाणिक है और वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है उसी के आधार पर अपना विश्लेषण करेगा। उल्लेखनीय यह है कि जहाँ अन्य प्रकार के अध्ययनों में (जैसे शिल्प संबंधी अध्ययन कथा वस्तु की दृष्टि से विश्लेषण सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का विवेचन अथवा समूची कृति का एक रचना की दृष्टि से अध्ययन आदि में) पाठ संबंधी त्रुटियों का

व्याकरणात्मक गठन का बोध कराता है जिस पर काव्यभाषा का सघटन प्रमुखत रचनाकारो की वयक्तिक प्रतिभा द्वारा सपन्न होता है। यह 'आधार' भाषा का वह रूप है जिसे रचनाकार प्राय समाज स ग्रहण करता है। सामान्य भाषा म काव्यभाषा की भिन्नता का एक मुख्य कारण उसका भावचित्रो का नियोजन है। अधिकतर कवि इन भावचित्रो या बिंबो के माध्यम स अपने विशिष्ट और वक-ल्पिक अथ की प्रतीति कराता है। ये प्रतीक और बिंब नामो के आधार पर विक-सित किए जाते है। और यही कारण ह जिसस सामान्य भाषा की तुलना म काव्यभाषा म नामो का योग कही अधिक महत्वपूर्ण होता ह। साधारणत भाषा का विश्लेषण करते समय कहा जाता है कि व्याकरण और शब्द समूह के दो तत्वो म स व्याकरण का तत्व भाषा के गठन म अधिक महत्त्व रखता है। उदाहरण के लिए बताया जाता है कि अनेक विदेशी शब्दो की उपस्थिति के बावजूद व्याकरण के कारण ही भाषा विदेशी नही हो जाती शब्द समूह इसीलिए व्याकरणात्मक गठन की तुलना म जल्दी बदलता भी है। भाषा के सामान्य रूप के प्रसग म यह विश्लेषण ठीक है। पर काव्यभाषा के सदभ म स्थिति दूसरी हो जाती है। यहाँ सामान्य भाषा प्रयोग से कवि का जो अतिरिक्त रचना धम है वह मुख्यत शब्द-समूह या कहिए नामो के विभिन्न स्तरो के प्रयोग और आयोजन म होता है। किसी जाति के सास्कृतिक तत्त्वो और अनुषगो का समावेश नामो म होता है न कि व्याकरण रूपो म और बिंबो अथवा प्रतीको का विकास इन सास्कृतिक तत्त्वो के आधार पर तथा इनके माध्यम से किया जाता है जो काव्य-सजन की मुख्य प्रक्रिया है। यहा कोई भ्रम न हो इसलिए अपनी पूव-स्थापना को दुहराया जा सकता है कि महत्त्व भाषा के नामो का नही है वरन उनके काव्या-त्मक प्रयोग का ह क्योकि शब्द की सभावना उसके सगत प्रयोग म ही उपलब्ध की जा सकती है। यही कारण है कि जिस से अनवरत व्यवहार स शब्द नही घिसते उनके प्रयोग और सदभ घिस जाते हैं। सामान्यत यह कहे जाने पर कि अमुक शब्द घिस गया है, यही अथ लिया जाना चाहिए कि प्रचलित सदभो म वह अपना अथ खो चुका है। कोई एक शब्द जो प्रचलित सदर्भो म अथहीन और चुका हुआ लगता ह रचनाकार द्वारा भिन्न सदभ म व्यवहृत होने पर अथ की नयी छाया व्युत्पन्न कर सकता है करता है।

८३ तो काव्यभाषा म और उसकी प्रयोग विधि म नामो के सगत प्रयोग की केन्द्रीय स्थिति होती है। और यदि नामो की दृष्टि स तुलसी की अवधी और ब्रज का विश्लेषण किया जाए तो दोनो भाषिक आधार रूपो म कोई विशेष अतर नही दिखाई देता। रामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड (माताप्रसाद

प्रभाव अपेक्षाकृत कम पड़ेगा, वहाँ भाषा संबंधी अध्ययन में पाठ की छोटी-मोटी भूल—कम से कम लिपिकार की अपनी प्रवृत्तिगत भूलें—विवेचन को काफी गलत दिशा में ले जा सकती हैं और निष्कर्षों को दूषित कर सकती हैं। मध्यकालीन साहित्य की भाषा के अध्येता का यह बड़ा कमजोर पक्ष है पर इस नितांत निर्भरता के भाव में वह अपने को मुक्त भी नहीं कर सकता। अतः उपलब्ध संस्करणों पर निर्भर रहने की उसकी सीमा मूलतः पद्धतिक है जिससे उसका निस्तार नहीं।

८५ यह कठिनाई विनयपत्रिका के प्रसंग में और बढ़ जाती है क्योंकि आधुनिक वैज्ञानिक रीतियों से संपादित उसका कोई संस्करण उपलब्ध नहीं है। प्राप्त संस्करणों में गीता प्रेस के संस्करण का पाठ अधिक विश्वसनीय माना जाता है। प्रस्तुत विवेचन में उक्त संस्करण को ही अध्ययन का आधार बनाया गया है। जैसा अभी संकेत किया गया विनयपत्रिका की संज्ञा शब्दावली में तत्सम रूपों का आधिक्य है जो बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा के बीच के एक मुख्य अंतर को व्यक्त करता है। वस्तुतः विनयपत्रिका की भाषा में ब्रजभाषा की ठेठ शब्दावली—संज्ञा शब्दावली कम है इस तथ्य की ओर कम लोगों का ध्यान जाता है। केवल व्याकरण रूपों को यदि ठीक ठीक कहा जाए तो एक कृत्रिम ढंग से समकालीन प्रचलित और मान्य काव्यभाषा ब्रज के अनुकूल बनाने का यत्न किया गया है। कविता के क्षेत्र में यह ब्रजभाषाकरण की प्रवृत्ति मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल के प्रवर्तक भारतेंदु तक में देखी जा सकती है। यहाँ स्पेंसर द्वारा प्राचीन अंग्रेजी काव्यभाषा के प्रसंग में कही गई कृत्रिम ढंग की बोली की बात याद आ जाती है। मध्यकालीन मध्यदेश में ब्रजभाषा के प्रयोग की स्थिति बहुत से कवियों में ऐसी ही रही। यही कारण है कि भक्तिकाल और रीतिकाल के ब्रजभाषा कवियों की रचनाओं में ब्रज की ठेठ शब्दावली प्रायः कम मिलती है विशेषतः उन कवियों की रचनाओं में जो ब्रज-क्षेत्र के बाहर के रहने वाले थे। विनयपत्रिका की भाषा का रूप इसी संदर्भ में समझा जाना चाहिए। और यह तो उचित ही है कि तुलसी की अवधी का आधार-रूप ब्रजभाषा की तुलना में अधिक ठेठ और परिनिष्ठित हो।

८६ कवि ने अपनी भाषा—जिसमें तत्सम शब्दावली का आग्रह है—को जनभाषा का आभास देने के लिए कई तरह के कुशल उपायों का प्रयोग किया है। रामचरितमानस में तत्सम शब्दों के जन प्रचलित उच्चारण को ध्यान में रखते हुए उनके अंत में एक लघु उकार जोड़ दिया जाता है। विनयपत्रिका में संस्कृत की तत्सम शब्दावली को बहुत बार एक कृत्रिम ढंग से तद्भव बनाया गया है। उदाहरण के लिए कुछ शब्द प्रयोग लिए जा सकते हैं—तीछन

करन जाना ते (२५८) है (२६३) तो (६८)
सबध को (८) का (६) की (२१८)
अधिकरण महँ (६)

क्रिया—

९५ सहायक क्रिया—
हो (२५८) हो (२) हुति (२६६)

९६ मूल क्रिया—
अधिकतर रूप अकारांत भूतकालिक कृदत से बने हुए हैं—
धाया (८) गयो (८) आया ( ) तयो (८) लग्यो (८) गया
परयो (८) रह्यो (८) पठ्यो (९६) पाइयो (१०८) रहा (११०) गया
रह्या (८६) धाया (९६) लायो (२६२) लिया (२६३)
(२३८) दिया (२६१) आया (२६२) लिया (२६३)

९७ कृदत—
पूर्वकालिक—करि (२३)
क्रियार्थक संज्ञा—निवाजिबो (८) बिजाविजो (३१)

९८ क्रियाविशेषण—
जनि (८८) नाहिनै (वस्तावर निषेध २०९)

९९ इस सीमित विश्लेषण से भी स्पष्ट है कि विनयपत्रिका की भाषा में ब्रजभाषा के आ रूप तथा औ रूप (इस अद्धविवृत मूल स्वर का महत्व में अकित किया जाए तो आ रूप)—अर्थात ग्रियसन की शब्दावली में चला रूप और चलो रूप—दोनों मिलते हैं। पर औ रूपों की तुलना में आ रूप निश्चय ही अधिक है। भाषिक विश्लेषण में भूतकालिक कृदत से बने क्रिया रूपों की स्थिति विशेष रूप में महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। विनयपत्रिका में ऐसे अनेक पद है जिनकी टेक में भूतकालिक कृदत से बनी आकारांत क्रियाएँ आती है (द्र० पद स० ८८ ९१ ९४ १९९ २०० २०२ २३९ २४३ २४४ २४५ २७६ २७७)। ऐसे पदों में स्वभावत ओकारांत क्रिया रूपों की भरमार है। बहुत कम रूप औकारांत तथा ओकारांत दोनों प्रयोगों में मिलते हैं उदाहरणार्थ —कह्यौ (८) कह्यो (८६)। शायद एक सीमा तक ही कवि की दृष्टि में ऐसे प्रयोग परस्पर परिवर्तनीय हों।

१०० विनयपत्रिका की ब्रजभाषा में पूर्वी बोलियों के प्रयोग जहाँ-तहाँ मिल जाते हैं भले ही उनकी आवृत्ति कम हो। कुछ विविध वर्गों के प्रयोग इस प्रकार है—कस (७) हमरि (७) लहै (२१) त (८०) तोर मोर (११३) केरी (१२६), कहँ (१६२) महँ (१८९) अस (२०४)। इस

अवधी है, तुलसी 'राउर' का प्रयोग करते हैं, पर विनयपत्रिका में जहाँ आधार-भाषा व्रज है, वे मूल शब्द का रूपांतरण 'रावरो' (स्त्री० रावरी) में कर लेते हैं—बावरो रावरो नाह भवानी (स० ५) खाटो खरो रावरो हौं। (स० ७५) 'राम! रावरो सुभाउ' (स० २५१)। यह पूर्व-पश्चिम का मिश्रण हिंदी की आंतरिक प्रकृति है मध्यकाल में भी और आधुनिक काल में भी (शिष्ट और परिनिष्ठित भाषा का केंद्र भले ही पश्चिम रहा हो) हिंदी काव्य-भाषा का इतिहास इसका स्पष्ट साक्ष्य प्रस्तुत करता है। और फिर तुलसी तो अपनी व्यापक समन्वय-दृष्टि के लिए प्रसिद्ध ही हैं जो उनके भाषिक प्रयोग के क्षेत्र में भी द्रष्टव्य है।

८९ रावरो जैसे मिश्रित रूप कुछ और भी मिल जाते हैं। नियारूप छाडिहौं (स० २६७) इसी प्रकार का उदाहरण है, जहाँ अवधी का छाडब और व्रज के छाडिहौं को बड़े कुशल रूप में मिला दिया गया है।

९० अब हम संपूर्ण विनयपत्रिका में से चुने हुए कुछ प्रतिनिधि व्याकरणिक रूपों का उल्लेख करना चाहेंगे जो प्रायः व्रजभाषा के हैं। कोष्ठकों में दिए हुए अंक पद संख्या के द्योतक हैं।

९१ संज्ञा-रूप—भरोसो (७५) सजरो (८७) चारो (१०२) खेरा (१४३) आसरो (२६१)। अनेक पद तो आकारांत अत्यानप्रासों में बने हैं—सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो (८७) सुनहु राम रघुबीर गुसाईं मन अनीतिरत मेरो (१४३) 'नाहिंन आवत आन भरोसो (१७०) आदि।

यहाँ स्मरणीय है कि सामान्यतः व्रजभाषा में ओकारांत या औकारांत रूपों की तुलना में अकारांत रूप कम नहीं होते—विनयपत्रिका की भाषा भी इसका अपवाद नहीं है।

९२ सर्वनाम—

हौं (५) मैं (२७९), मो (८) मेरो (७२)

तुम (१०२) तू (८४) तो (१९), तें (८०) तुम्हारे (१०१) रावरो (२५१) ता (८) तें (८)

कोउ (२१९), को (१६२) का (२२२)

९३ विशेषण—

बली रूप बडो (५) भलो (३२), नीको (३५) खरो (७२), भलो (१०७), साँचो (१६३), तिहारो (२६३)

९४ परसर्ग—

कर्म-सम्प्रदान कौ (५), को (२५७), कहँ (१६२), सों (६६)

जल जमुना माँ भरवा गयाँताँ, हती गागर माथ हेमनी रे (पद १७३)

१०३ इस प्रसंग में अन्तर्वर्ती भाषा या आधुनिकतावाद भाषाओं और उनकी पारस्परिक स्थिति के संबंध में ग्रियर्सन का मतव्य अनायास स्मरण हो आता है। ग्रियर्सन ने लिखा है—'जिस प्रकार पंजाबी उत्तर-पश्चिम में मध्य देश की प्रचलित भाषा का प्रतिनिधित्व करता है उसी प्रकार राजस्थानी उनके दक्षिण-पश्चिम में प्रचलित भाषा का प्रतिनिधित्व करती है। इस अंतिम प्रसार क्रम में मध्यदेश की भाषा राजस्थानी क्षेत्र से होता हुई गुजरात के समुद्र तट तक पहुंच गई है। यहाँ यह गुजराती का रूप धारण कर लेती है। (भाषा सर्वेक्षण १ १ पृ० ३१८) मीराँबाई की काव्यभाषा के ऊपर चर्चित विविध आधार मानो ग्रियर्सन के इस भाषावैज्ञानिक पर्यवेक्षण को व्यावहारिक रूप में संपुष्ट करते हैं और ब्रजभाषा राजस्थानी-पंजाबी-गुजराती की तात्विक एकता को प्रदर्शित करते हैं। ब्रज से द्वारिका तक जाने वाली कृष्ण भक्ति की यात्रा ने जैसे इन भाषा रूपों को परस्पर मिला लिया हो। संत मीराँ की काव्य-यात्रा इसी के समानांतर है। यहाँ यह स्मरणीय है कि मीराँ ने अपने पूरे के पूरे पद इन अलग-अलग बोली रूपों में नहीं लिखे हैं वरन् अधिकतर उनका आधार भाषा में इन कई भाषिक तत्वों का मिश्रण हो गया है प्रधानता ब्रज और राजस्थानी की है।

१०४ मीराँ की काव्यभाषा में सर्जनात्मक क्षमता अपेक्षया कम है। सूर या तुलसी जैसा भाषा का कुशल प्रयोग नहीं दिखाई देता। यहाँ लोकगीतों की तरह सीधी अभिव्यक्ति पर बल है लाक्षणिक प्रयोग बीच-बीच में जहाँ तहाँ भले मिल जाएँ। नारी होने के कारण मीराँ की तन्मयता और विरह-भावना कुछ अपने आप से प्रामाणिक लगती है, उनके पदों का भाषिक गठन उतना सशक्त नहीं है। उदाहरण के लिए लोकगीत जैसे सीधे वर्णन द्रष्टव्य है—

दादुर मोर पपीहा बोले कोयल सबद सुणावे
घमर घटा ऊलर हाइ आई दामिन दमक डरावे (७४)

अथवा

(इक) कारी अधियारी बिजली चमके विरहिणी अति डरपाये रे
(इक) गाज बाज पवन मधुरिया, मेहा अति झड लाये रे (८१)

यहाँ सीधा परंपरित वर्णन है भाषिक प्रयोग से कोई विशिष्ट अर्थ-क्षमता उत्पन्न नहीं होती। लोकगीतों की तरह 'दादुर मोर पपीहा बोले' वाली पंक्ति तो इसी रूप में कई पदों में आती है द्र० पद सं० (७४, ८१, ९२, १४५, १४७)।

प्रसग म यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि विनयपत्रिका म, जसा सकेत किया जा चुका है ठेठ शब्दावली कम प्रयुक्त हुई है, फिर भी कही-कही अवधी के ठेठ शब्द-प्रयोग मिल जाते हैं। उदाहरणाय 'जूडे (२४९) अवधी भोजपुरी का शब्द है जा प्रसन्न के अर्थ म प्रयुक्त होता है। इससे प्रकट होता है कि विनयपत्रिका की तत्सम शब्दावली प्रधान भाषा म जहा ठठ शब्द मिलता है, वहा वह व्याकरणिक ढाचे के अनुकूल ब्रज का न होकर अवधी का हो सकता है।

१०१ समग्ररूप मे विनयपत्रिका की भाषा क विश्लेषण स प्रकट होता है कि तुलसी की इस रचना म प्रयुक्त ब्रजभाषा का रूप ठेठ और परिनिष्ठित नहा है। विनयपत्रिका म जिन आ रूपा का आधिक्य है वे आज की बोली म केन्द्रीय ब्रज के न होकर पूर्वी ब्रज या कन्नौजी म पाए जाते ह। तुलसी के समय म भी स्थिति इमस भिन्न न रही होगी। सूर से तुलना मे यह स्थिति और स्पष्ट होती है। सूर की ब्रजभाषा औ' रूप प्रधान है और हम बाह्य साक्ष्य से भी जानत हैं कि वह मथुरा की केन्द्रीय ब्रज पर आधारित है। तुलसी की ब्रज भाषा का आधार पूर्वी ब्रज बुदली-कन्नौजी क्षेत्र का बोली रूप जान पडता है जा अपेक्षया अवधा के कुछ निकट की स्थिति है जिस (अवधी) के आधार पर कवि न अपन विशाल प्रबध रामचरितमानस की रचना की है। बोलिया के इन आधारा म भिन्नता हान पर भी उन पर निर्मित तुलसी की काव्यभाषा के स्वरूप म एकात्मता है, इसका विवेचन पहल किया जा चुका है।

मीराबाई

१०२ कबीर की ही तरह मीराबाई की काव्यभाषा के आधार म कई बाला रूप मिश्रित है। मीराबाई की पदावली की भूमिका (पृ० ६५) म परशुराम चतुर्वेदी न लिखाया है कि मीरां मे चार भाषा-स्तरा का प्रयोग है—

१ राजस्थानी—

थे तो पलक उघाडो दीनानाथ मैं हाजिर नाजिर कब की खडी
साजनिया दुसमण हाय बठ्यां, सब ने लगू कडी (पद ११८)

२ ब्रजभाषा—

यहि विधि भक्ति कसे होय
मण की मल हिय ते न छूटी, दियो तिलक सिर धोय (पद १५८)

३ पजाबी—

हो काना किन गूथी जुल्फा कारियां (पद १६२)

४ गुजराती—

प्रेमनी प्रमनी प्रेमनी रे मन लागी कटारी प्रमनी

मधुर (२) सांवरो (१४), प्यारो (१४), साचो (१४), पुराणी (२०) न्यारो (४६) घणा (९९), उचाट (९९), बावरी (९९), रँगीली (१८५) जरजर (१६६), कठण (१९२) कछु (१९२)

ऊपर वर्णित सना ना नावली के अनुरूप विशपण रूप भी विशेष सन्दर्भों म तत्सम या तद्भव होत ह।

१०९ परसग—हम को (४६) राम कू (१२३) वांहि रिझाऊँ (२०) सब ने लगू (११८)

सोना रूपां सू (२८)

प्रेम भगनि को पडा (४६) गिरधर क घर (२०) उण को प्रीत (२०)

हरि रे चरण (१) गण रो सागर (१२९)।

कबरो ठाडी (१८) लगण दा पीर (१९२) लागी कटारी प्रम न (१७३)

जोत मे जोत (४६)।

परसर्गों मे खडी बोली (-न कम क लिए) राजस्थानी (रो) ब्रज (कू) गुजराती (सू) और पजाबी (-दी) सभी क रूप द्रष्टव्य ह। सबध कारक के परसर्गो (की दी, री नो) म यह वविध्य विशष रूप स दखा जा सकन है।

सश्लिष्ट परसर्ग अथवा विभक्तियो के रूप यत्र तत्र मिल जात हैं—नख-सिखां (कम १) कालिया (कम १) माध्यां (अधिकरण ५) कुजा (अधिकरण २१)।

क्रिया

११० सहायक क्रिया—हो (४६) छो (१२९) छ (१८५)।

१११ मूल क्रिया—परस (१) परस्यां (१) करस्यां (१) भेटयां (१) नार्यां (१) धार्यां (१) विराज्यां (२) बजावां (२) पडो (१८) चढी (१८) ठाडा (१८) निहारां (१८) बिकाणी (१८) जाऊँ (२०) पड (२०) गय (२०) गलू (२०) रिझाऊँ (२०) पहिराव (२०) पहिरूँ (२०) ले (२०) खाऊँ (२०) बठाव (२०) बचे (२०) जा (४६) बणाऊँ (४६) भइ (४६) कहै (४६) गाय्या (१०१) जाणई (१०५) णिभाज्यो (१२९) चमक (१८५) बाजा (१६६), लागी (१९२) आवै (१९२), दीस (१९२) कहूँ (१९२)।

११२ सयुक्त क्रिया—उठि जाऊ (२०) उठि जाऊँ (२०) बिक जाऊँ (२०) बता जा (४६) उगा जा (४६) रर रही (१८५) हर लीन्हा (१६६)

११३ कृदत—हरण (१) करण (१) धर (२) रीझ (२) दखत (२०) आवां (९९) सुण (१०१) तलफि (१०१) जल (१०५)।

वणन का ढग और कहीं-कहीं हल्का अप्रस्तुत विधान कृष्ण-काव्य के प्रसिद्ध रचयिता सूर का अनुकरण करता है पर वहाँ भी बेपरवाही अधिक है। इसीलिए कुछ पद विधान म सूर जसे लग सकते हैं पर उनमे वसा निखार नहीं। कुल मिला कर मीराँ के काव्य म व्यक्तिगत त मयता का विस्तार अधिक है कविता का दक्ष सप्रेषण कम।

१०५ मीराँ की काव्यभाषा म मिलन वाले प्रमुख व्याकरणिक रूप इस प्रकार है। कोष्ठक म अक-सख्या परशुराम चतुर्वेदी के सस्करण क अनुसार है।

१०६ सज्ञा—मण (१) हरि(१) चरण(१) कँवल (१) जगत (१), ज्वाला (१) पदवी (१) ब्रह्माड (१), नखसिखा (१), कालियाँ (१) प्रणाम (२) मार (२), मुगट (२), माथ्याँ (२) अलकाँ (२), अधर (२), वगी (२), छब (२) णेणाँ (१४) चित्त(१४) मूरत (१४) हिवडा (१४), अणी (१४), पथ (१४) हाय (१४) लाग (१४) रूप (२०) रण (२०) प्रीत (२०) कुजाँ (२१), पडा (४६) गल (४६) चँदण (४६), भस्म (४६) अग (४६) जोत (४६) कपाट (९९) गेंह (१०५), घुण (१०५) कुणवो (१०५) गेह (१०५), पाणी (१०५), पीर (१०५), मीण (१०५) दीपक (१०५) औगुण (१२९) वेडा (१२९) साँवलिया (१४५), गणगौर (१४५), बिजली (१४५), मघ (१४५) चरणाँ (१४५), मुरलिया (१६६), जमणा(१६६) तीर (१६६) कमरया(१६६) नीर (१६६) घाव(१९२), रोम (१९२)

सना श ावली म सूर और तुलसी की तरह तत्समा का एक बडा अश है विशेषत कृष्ण की शोभा या महिमा वाल प ा म।

१०७ सवनाम—

मै (२०) म्हा (१२९) हम (८६) म्हारी (२), अपने (१४) अपणे (८६)।

मरी (२०)

थें (१) थारा (१०५) थारी (९९) थारो (१२९) तरी (४६)

वा (२०) सो (२०) उण (२०)

या (२), इण (१)

जा (२०)

कोइ (१९२)

१०८. विशेषण—

सुभग(१), सीतल(१), कोमल(१), अटल(१), अगम (१), कारो(२)

म दशन पर याश, पर वस्तुत मौलिक और गुणात्मक अतर होता है। दृष्टात पहले कही गई बात के स्पष्टीकरण का साधन होता है पर बिंब म उस का विधान बात म अभेद रहता है। बिंब दृष्टात की तरह साधन न होकर, साधन और साध्य स्वय ही है। उदाहरण के लिए इस दोहे को —

जो रहीम मन हाथ है, मनसा कहुँ किन जाँहि।
जल म ज्यों छाया परो, काया भीजति नाँहि॥ (९)

यहाँ दूसरी पक्ति म जो पयवेक्षण है उसम बिंब रचना के लिए कच्चा माल तो है पर वस्तुत वह दृष्टात के रूप म प्रयुक्त हुआ है। इसीलिए वह अथ के स्पष्टीकरण का साधन है, स्वय अथ-साक्षात्कार का रूप नहीं। और इसीलिए उसका विधान अलकार का है जो अलग चमकता है। बिंब होने पर वह भाषा की सामान्य प्रक्रिया म पयवसित हो जाता।

११८ उदू कविता म भी भाषा का सीधा रूप प्रयुक्त होता है। पर वहाँ *व्यजना बिंब के सहारे भले विकसित न होती हो हल्के मुहाविरो के माध्यम* से विकसित होती है। सूक्ति काव्य की सफलता कवि के पयवेक्षण का नपे-तुले शब्दो म समेट लेने म है। भाषा का इससे दूसरा प्रयोग वहाँ अपेक्षित नहीं। वहाँ तो नीति वचन सीधे ही कह दिया गया है उसे व्यजित करने की जरूरत नहीं केवल दृष्टात से सपुष्ट करना पर्याप्त है। इस दृष्टि से उर्दू कविता म भाषा का सीधा प्रयोग सूक्तिकाव्य के भाषा प्रयोग से अलग है। एक दृष्टि मे सूक्तिकाव्य म काव्यभाषा की बहुत सीमित क्षमता ही अपेक्षित है। वहाँ महत्त्व पयवेक्षण का है और उसे नीति वचन के रूप म कथित करने का है। सूक्ति-काव्य की सरलता मानव जीवन के सीधे पर पन पयवेक्षण म सहायता देती है। जीवन के विविध सघर्षो-द्वन्द्वो की स्थितियो को रहीम ने कम लिया है। इसीलिए उनकी सूक्ति शैली सीधा भाषिक विधान और नीति सिद्धात का कथ्य परस्पर बहुत अनुकूल है। रहीम की ही शब्दावली मे उनके दोहो म सुई की विनम्रता है तरवारि की आक्रामकता नहीं—

रहिमन देखि बडेन को, लघु न दीजिय डारि।
जहा काम आवे सुई, कहा करे तरवारि॥ (१६)

कुल मिलाकर रहीम के कृतित्व म—नीति के दोहो और शृगार के बरवै दोनो म—पयवेक्षण का सरल यद्यपि पना रूप है पर अनुभव की सश्लिष्टता और जटिलता नहीं है जिसका चित्रण कवि के लिए अभीष्ट भी न था।

११९ यहाँ रहीम की काव्यभाषा म प्रयुक्त व्याकरणिक रूपो का एक सक्षिप्त और प्रतिनिधि सूची दी जा रही है। पहले दोहो मे मिलने वाले ब्रजभाषा

११४ अव्यय—कब (१४) तो (२०), तव (२०), हौ (२०), ज्यू (२०), त्यू (२०), ई (२०), विण (२०), न (२०), जणां (२०), तित (२०), तो (२०) बार बार (२०), मत (८६), ण (९९), णा (९९) आज (१४५), निकटि (१९२), वाहरि (१९२) नहिं (१९२), ऊपर (१९२)।

रहीम

११५ रहीम की काव्यभाषा का अध्ययन कई कारणो से अपने म बडा रोचक और महत्वपूण है। रहीम ने अपने काव्य म तीन काव्यभाषाओ का स्वतत्र प्रयोग किया है—हिंदी सस्कृत फारसी। यहाँ स्पष्ट ही हमारा सबध उनके हिंदी काव्यभाषा प्रयोग से है। हिंदी काव्यभाषा के तीनो महत्वपूण आधारो—ब्रजभाषा अवधी, खडीबोली—का रहीम उपयोग करते हैं। उनके कृतित्व का प्रधान और प्रसिद्ध अश—दोहे ब्रजभाषा म है, बरव अवधी म लिखे गए हैं, और मदनाष्टक खडी बोली म है। इस दष्टि से अय अनेक कवियो की तुलना म रहीम अधिक हिंदी कवि हैं। काव्यभाषा के सदभ म उनका व्यक्तित्व अपनी विनम्रता और वविध्य म विशेष आकषक है। यहा यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि रहीम की उपयुक्त रचनाओ का पाठ अभी निर्विवाद रूप स स्थिर नही हो सका है।

११६ हिंदी काव्यभाषा के आधारो म से बरव के लिए अवधी चुन कर कवि ने काव्यभाषा और छद की अत प्रकृति के सामजस्य को खूब बारीकी स समझा है। बरव हिंदी का छोटा छद है, और उसके विधान म कई स्थलो पर मात्रिक दष्टि से लघु-गुरु का क्रम बहुत अनुकूल पडता है। विशेषत पहले और तीसरे चरण के अत मे। इधर अवधी म सना के तीन रूपो—लघु, दीघ दीघतर (घोडा घुडवा घुडौना) म से दीघ रूप (घुडवा) अधिक प्रचलित है। रहीम के बरव नायिका भेद का ध्वन्यात्मक कामलता और सरसता बढाने म 'धनिकवा, 'उरोजवा करेजवा डगरिया और निरउजवा जसे 'दीघ प्रयोगो का गुणात्मक योगदान है। इन दीघ सना रूपो के न होने के कारण ही ब्रजभाषा मे बरव छद का निखार सभव नही हो पाता। रहीम ने अपनी हिंदी काव्यभाषा के विविध आधारो म विवेक करते समय इस बात का पूरा ध्यान रक्खा है।

११७ *रहीम का काव्य मुख्यत सूक्ति-काव्य है।* इस सदभ म उन की काव्यभाषा के विवेचन का एक अय महत्वपूण पक्ष उभरता है। सूक्ति-काव्य मे भाषा का सीधा और 'उपकरणात्मक प्रयोग होता है, सजनात्मक प्रयोग उतना नही। नीति के प्राय सभी दोहा म दूसरी पक्ति दष्टात के तौर पर आती है। जसा आरभ म ही विवेचन किया गया, दष्टात और बिंब म उपर

१२५ विशेषण

पर (२) सब (६), भलो (१०) ऐस (२०), बावन (२७), टेढो (३७), बापुरो (४९), बाढ़ि (५०) बडे (५०) द्वै (५०), निज (५१), बडरी (५१) बारे (७०) उजियारा (७०) बडो (१७२) तातो (२३९)।

१२६ अवधी रूप निरलजवा (७८)

१२७ परसग खीरा ने वीन (२०६)

देखि वडेन को (१६), हर्माहि न रुचै (१४) आकाश लौं (६४), मातें हाथी हहरि के (५०) उवन चद्र जिहि भांति सा (११) जाड गय से काज (१९६)

उमडि चत्र जल पार तें (१०)

सोच नहा वित हानि को (६) सरवर के खग (२२) अमर वेलि विन मूल की (२०)

वडे पेट के भरन मे (५०) दिवस अकार्साहि माँहि (७२) धूर धरत नित शीश पर (३३)

परसर्गों क समान प्रयुक्त होन वाले शब्द परकाज हित (२), तव ही लग (१४), पा तर परे (१८२) हम तन डारत ढेकुली (२०७)

क्रिया

१२८ सहायक क्रिया हो (१६५) है (५०) है (१५९) होय (६) ते (२२४)

१२९ मूल क्रिया पियहि (२) कहि (२) सुर्चाहि (२) भूल्त (२) आव (१६) कर (१६) कीजिये (२१-आदरार्थक रूपा का बाहुल्य नीति काव्य की प्रकृति क अनुकूल), भयो (२७) धरत (३३) बहु (३३) तरी (३३), ढूढत (३३) तिम (३६) डोलत (३६) कर (४५) काढि (५०) दय (५०) देखि (५१) होव (५१) परे (५८), कहि (५८) बन (६४) खरचे (६४) बाढे (८४) रची (१५४) कीजियो (२०६) गँवाया (२३२)

१३० अवधी रूप लागेउ (१), बनवति (१२), मा (२०) करसि (२४) पवढहु (४१) मनवल्उ (४८), कीन (५०), करब (६५) तकब (७९), जानिसि (८१)।

यहाँ अवधी क प्रसिद्ध भूतकालीन रूप इसि से बने, और भविष्यत्कालीन रूप -ब से बने विशेषत द्रष्टव्य हैं।

आधार रूप का विश्लेषण है और फिर तुलना के लिए बरव नायिका भेद से कुछ अवधी रूप प्रस्तुत हैं। दाहो और बरव की सख्या रामनरेश त्रिपाठी के सकलन 'रहीम' के आधार पर है।

'१२० सज्ञा

तरुवर (२) फल (२), सरवर (२) पान (२) सम्पति (२) सुजान (२), दुरदिन (६) पहिचानि (६), सोच (६) वित (६), हानि (६) हित (६), काम (१६) अमरबेलि (२०) मूल (२०) प्रभु (२०), याचक्ता (२७) आँगुर (२७), गात (२७), घूर (३३), शीश (३३), रज (३३) बेर (३६), कछ (३६) रस (३६) अग (३६) गरीब (४५) लोग (४५) मिताई (४५) पेट (५०) दुख (५०) हाथी (५०), दाँत (५०) गोत (५१), अँखियाँ (५१) आखिन (५१) दुरथल (५८) घूर (५८), आगि (५८) दाम (६४) आकाश (६४) नाम (६४) गति (७०) दीप (७०) अधेरो (७०) रिस (८३), गडही (१२१), गाँठ (१३२) नगारो (२३३)।

१२१ अवधी रूप—किनरिया (१) उरोजवा (२) करेजवा (३) कजरवा (५) दवतवा (११) गुलबवा (३०) अधरवा (३५) परिवरवा (४५), विरोधवा (५०), मिनुमार (५९) अपरधवा (७५) रहनिया (७८)।

१२२ यहाँ रहीम ने परिवार विरोध और अपराध जसे तत्समा म भी -वा प्रत्यय लगा दिया है जिसस एक ओर अवधी का प्रामाणिक रूप बनता है, और दूसरी ओर बरव छद की यति का सहायता मिलती है। बरव के प्राय प्रत्यक पहले और तीमरे चरण म -वा वाले 'दीघ रूप मिलत हैं।

१२३ सवनाम

मैं (१९७) मा (२३४) आप (२३८), अपने (२०७) आपने (३६),
आपना (१२), हम (२०७), हम (२८१)
तू (१९७) तुम (२२४),
वे (३६), उन (३६), ता (२०), त (१३)
यह (२१५) या (५०) ये (१८४) जे (१३), जिहिं (३३) जो (१७१)
जु (१८०), जा (२४०)
सा (३३)
को (२३८), कहा (१६), का (२०)

१२४ अवधी रूप—ओ (७९) कवन (३)

· ५

रीतिकालीन काव्यभाषा

१३७ भक्तिकाल की तुलना में रीतिकालीन कवियों का भाषा प्रयोग सजग है। वस्तुत रीतिकालीन काव्य विशेषत रीतिबद्ध काव्य में भाषा के प्रति दृष्टिकोण बदलता है। दरबारी वातावरण के समानान्तर भाषा अब कृत्रिम और अलंकरण प्रधान हो जाती है या कहना चाहिए छन्द-अलंकार प्रधान हो जाते हैं भाषा गौण हो जाती है। रीतिकाल के प्रवर्तक केशव की काव्यभाषा का रूप ऐसा ही है। काव्यभाषा के आधार रूप को लेकर भी केशवदास का रुख परिवर्तित होता है। भक्तिकालीन कवि कबीर जायसी और तुलसी भाखा का प्रयोग आतंरिक सतोष और उल्लास के साथ करते हैं—

सर्सकिरत है कूप जल भाखा बहता नीर कबीर

आदि अंत जसि कथ्था अहै। लिखि भाखा चौपाई कहै जायसी

भाखाबद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहिं होई तुलसी

परंतु केशवदास के लिए प्रसिद्ध है कि वे 'भाखा' में रचना करने के कारण लज्जित और कुंठित थे—

भाखा बोलि न जानहीं, जिन के कुल के दास।
भाखा कवि भो मदमति, तेहि कुल केशवदास॥

यह ठीक है कि रीतिकाल के प्रवर्तक कवि की यह कुंठा आगे के कवियों में शमित हुई और उनकी काव्यभाषा में सहज प्रवाह है। पर अलंकरण का मोह फिर भी बना रहा। घनआनन्द अथवा ठाकुर जैसे स्वच्छन्द कवियों ने रीतिकालीन भाषा के जड़ीभूत होने हुए रूप के प्रति विद्रोह किया और काव्यभाषा की रचनात्मक ऊर्जा को फिर से उन्मुक्त करने का प्रयत्न किया। पर भाषा की यह मुक्ति व्यक्तिगत कवियों में ही संभव हो पाई रीतिकालीन काव्यभाषा का सामान्य रूप क्रमश अधिकाधिक स्थिर और शास्त्रीय होता गया।

१३८ रीतिकालीन भाषा के जड़ होने के पीछे एक कारण यह भी था कि जहाँ अन्य युगों में काव्यभाषा के कई आधार कवियों को विकल्प रूप में सुलभ थे—मराठी-ब्रजभाषा-अवधी—वहाँ रीतिकाल में आकर काव्यभाषा का एक ही आधार प्रतिष्ठित हो गया—ब्रजभाषा। स्वभावत कबीर और सूर के समय से लेकर भिखारीदास तक ब्रजभाषा के पुनर्संस्करण की प्रक्रिया

१३१ सयुक्त काल खात हैं (२) प्रतिपाल्त है (२), ह्वै जात (२७), होत है (५१), ठाढे हूजत (५८), कहत ते (२२४)

१३२ सयुक्त क्रिया बढि जाय (१०), दीजिए डारि (१६), खोजत फिरिय (२०), गहि रहिय (२१), हहरि कै (५०), जयत मागि (५८), मर चुके (१०१)

१३३ अवधी रूप उकमन लाग (२)।

१३४ फुदत पर (६) चल्बिो (१०), जाँचिब (१५) देख (१६), तजि (२०), गए (२७), मरन (५०) बढत (५०), बिगरी (६४)

१३५ अव्यय नहि (२) न (२) नहा (६) इ (१३), जहाँ (१६) तौ (१७) बिन (२०), पै (२२), हूँ (२७), नित (३३), कम (३६) जोग (४५), या (५१), ज्या (५१) जब (५८), तऊ (६४), मत (१३३) त्या (१९३), और (२०३) मति (२१९)

१३६ अवधी रूप जहँवाँ (७८), तहँवाँ (७८)

भवत जात। राज के लोग।
मूरति धारी। भागु भाग॥

यहाँ 'जात', 'लाग' और 'भाग' के अन्तिम [illegible] छंद के आग्रह के कारण विकृत किया गया है अर्थात् पूरे छंद के [illegible] में [illegible] विकृत है। फिर छोटे छंद के चरण होने के कारण उसमें [illegible] नष्ट गया है और भाषा की लय समाप्त हो गई है। भाषा की प्रकृति का भी तिरस्कार और [illegible] का है [illegible] छोटे छंदों का चयन [illegible] अनुरोध है। आरंभ की रचनाओं का [illegible] इन छंदों में क्या भाषा में व्यक्ति [illegible] होता। [illegible] शास्त्रीय ज्ञान [illegible] पा रहे दिखा रहा हो पर भाषा के ऊपर उनका कोई अधिकार नहीं जान पड़ता।

१८२ [illegible] के समय में कवि का अनगढ़पना उसके शब्दों के चुनाव से भी प्रकट होता है। 'रामचंद्रिका' में तत्सम शब्दावली के साथ प्राकृत शब्दों के विकृत रूप एक विचित्र और अशुभ समाव उपस्थित करते हैं। सरयू नदी का वर्णन है—

अति निपट कुटिल गति यदपि आप।
तउ दत्त शुद्ध गति छुवत आप।
कछु आपुन अघ अधगति चलति।
फल पतितन कहँ ऊरध फलति॥ (१।२६)

अति कुटिल गति दत्त' 'शुद्ध जैसे तत्सम के साथ चलति' या फलति जैसे विकृत रूप भाषा के स्वरूप को एकरस नहीं होने देते। संस्कृत अपभ्रंश और हिंदी भाषा के तीनों स्तर जैसे एक साथ मिला दिए गए हों। दतो है के लिए दत्त शब्द का प्रयोग तो किसी भी नियम से उचित नहीं ठहरता। इसी तरह 'तजो सब सार' (४।८) में तजो और सार' का चुनाव बेमेल है। तासु के उर (३।३१) जैसे हीन-व्याकरण प्रयोग तो केशव में अनेक स्थलों पर मिलते हैं।

१८३ कहीं कहीं तत्सम शब्दों के बाहुल्य से भाषा का रूप एकदम संस्कृत मालिक हो गया है। तीसरे प्रकाश में धनुषयज्ञ का ब्यौरा देते हुए एक शार्दूल विक्रीडित छंद आता है—

सीता शाभन ब्याह उत्सव सभा सभार सभावना।
तत्तत्काय समग्र व्यग्र मिथिलावासी जनाः शोभनाः॥
राजा राज पुरोहितादि सुहृदा मंत्री महामंत्रदा।
नाना देश समागता नृपगणा पूज्यापरा सर्वदा॥ (३।१३)

कितनी बार संभव हो सकती थी? फलत उत्तर रीतिकाल से ब्रजभाषा की शक्ति का जो छीजना आरंभ हुआ वह भारतेंदु काल तक आकर पूरा हो गया। आधुनिक काल में बुझ जाने के पूर्व ब्रजभाषा की ज्योति मानो रत्नाकर में आखिरी बार भभक उठी। एक लंबी और गौरवशाली यात्रा का वैसा ही महिमामय अंत!

१३९ रीतिकाल में आकर कवियों की भाषा के प्रति सजगता एक रूप में बढ़ती है तो आलोचकों और अध्येताओं की सजगता दूसरे रूप में। यहाँ कविता अधिकांशत धर्म से विलग होकर ऐहिक रूप में विकसित होती है। रीतिकालीन कवि के लिए धर्म और दर्शन की प्रेरणा साधक नहीं रह गई और एक माने में वह अधिक मानवीय कविता का स्रष्टा है जिसे कभी-कभी शुद्ध कविता का भी सना दी जाती है। स्वभावत रचना प्रक्रिया के इस रूप में भाषिक क्षमता अधिक ध्यान आकृष्ट करती है। भाषा के स्तर पर रीतिकाल का कवि या तो पूरी तौर पर सफल होता है या फिर एक कलाबाज होकर रह जाता है। मध्यम स्थिति की छूट उसके लिए शेष नहीं रहती। इस दृष्टि से रीतिकालीन काव्यभाषा की पहिचान और तीव्र तथा पैनी हो जाती है। घनआनंद रीतिकालीन मनोवृत्ति के श्रेष्ठतम अंश का प्रतिनिधित्व यह कह कर करते हैं—

मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत।

केशवदास

१४० वस्तुत मध्यकालीन काव्य में केशवदास की स्थिति बहुत कुछ उनके पांडित्य और तज्जन्य आतंक के कारण है। काव्य रचना के स्तर पर उनका सफल कृतित्व कम है। इसका प्रमाण उनकी काव्यभाषा का रूप है, जो व्याकरण और सर्जनात्मक क्षमता दोनों दृष्टियों से अस्तव्यस्त और उखड़ा-पुखड़ा है। कवि की प्रसिद्ध कृति 'रामचंद्रिका' छंदों का एक अजायबघर है जहाँ छंद-प्रयोग भाषा में प्रवाह और जीवंतता उत्पन्न नहीं करता वरन उसे नष्ट कर देता है। 'बहु छंद' की जो प्रतिज्ञा केशवदास ने की है (१।२१) वह काव्य के लिए नहीं, कौतुक के लिए है। इन छंदों में काव्यभाषा ऐसे साँचों में कस गई लगती है जिनसे कोई रूपाकार ग्रहण करके वह निकल नहीं पाती। मध्यकालीन काव्यभाषा के रूप में अब तक विकसित और निखरा हुआ ब्रजभाषा का रूप केशव की रचनाओं में तरह-तरह से विकृत हुआ है।

१४१ कवि ने 'रामचंद्रिका' में छंद-वैविध्य के लिए जितना यत्न किया है भाषा की लय उतनी ही उपेक्षित हुई है। उदाहरण के लिए दूसरे प्रकाश का पहला छंद लें—दशरथ की महिमाशाली राजसभा का वर्णन है—

१४५ 'रामचंद्रिका' के प्रथम पाँच प्रकाश के भाषिक विश्लेषण के आधार पर केशव की भाषा के प्रतिनिधि रूपों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—छंदों की संख्या लाला भगवानदीन के संस्करण के अनुसार है—

१४६ संज्ञा

पताल (१।१) मंगलाचरण (१।१) आदि (१।१) दया (१।१), मृणालनि (१।१) पंक (१।१) कलुष (१।१) उपासना (१।२) मति (१।२) गंगा (१।२) आपनपो (२।२१) वनिता (३।३४) अचरजु (४।२), दैवत (४।३) चित्त (४।३) दानव (४।७) मुख (४।१३) सुनिताई (५।१) बाहु (२।१८) हिया (२।६०)

संज्ञा शब्दों में ब्रज के ओकारांत या आकारांत रूपों की ऐसी विशिष्ट स्थिति नहीं है जैसी सूर या तुलसी की ब्रजभाषा में मिलती है। तत्सम और तद्भव के प्रचलित रूपों का केशव ने बहुत बार बिना बदले प्रयोग किया है। तत्समों का प्रयोग वर्णन के प्रसंगों में अधिक है। वर्णन स्थलों पर तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग वस्तुतः मध्यकालीन काव्यभाषा की एक विशेषता कही जा सकती है। केशव को छोड़कर जिनमें वर्णन के प्रसंग कम हैं जायसी सूर तुलसी जैसे प्रमुख कवियों में तत्सम या कहिए सांस्कृतिक जीवन की शब्दावली वस्तु, प्रकृति या शोभा वर्णन के प्रसंगों में बहुतायत से मिलती है। इसका एक कारण यह भी है कि श्लेष या यमक जैसे बहुअर्थवाची अलंकारों का निर्वाह तत्सम शब्दावली में अच्छा होता है क्योंकि परंपरा में तत्समों के कई तरह के अर्थ प्रचलित होते हैं। 'रामचंद्रिका' में नगर शोभा के प्रसंग में उदाहरण के लिए यह दोहा आता है—

तिन नगरी तिन नागरी, प्रति पद हंसक हीन।
जलज हार शोभित न जहँ, प्रगट पयोधर पीन (५।१६)

इस दोहे के छोटे से आकार में कम से कम छः श्लेषों का प्रयोग हुआ है। इस अलंकार निर्वाह की सुविधा के लिए कवि ने यहाँ सभी संज्ञा शब्द तत्सम रूप में रखे हैं।

१४७ सर्वनाम—

हौं (४।१२) मैं (२।१९) मो (४।२०) हम (४।२२)
तू (१।१४) तुम (४।२५) तुम्ह (४।२२) तोहि (४।२२)
आप (३।३३) आपुन (२।१४) अपना (५।२०)
ता (१।१७) तहि, (१।५) तिन (१।७)
यह (४।१६), वे (५।२०), यहि (१।१)

यहाँ भाषा का रूप न संस्कृत है न हिंदी वरन् संस्कृत की पैरोटी जसा लगता है। इसके विपरीत तुलसीदास ने जहा रामचरितमानस या विनयपत्रिका म स्तोत्र या विनय के अशो म संस्कृत शली की प्रचुरता रखी है वहा अवधी या ब्रज के कुछ रूप डाल कर उन्ह लय और शैली की दृष्टि स भलीभांति मिला दिया है।

१८४ लयहीनता के अतिरिक्त व्याकरण और शलीगत दोष भी केशव की भाषा म कम नहीं। वश-परिचय के प्रसग म कवि लिखता है—

उपज्यो तेहिं कुल मदमति शठ कवि केशवदास। (१।५)

यहा उपज्यो प्रयोग मनुष्यो के सदभ म स्पष्ट ही चित्य है उपज्यो प्राणहीन वस्तुओ के लिए आता है, मनुष्यो के लिए नहीं। इसी तरह हरिजू ! हरि हैं' (१।११) म आदरार्थक सना (हरिज) और सामान्य क्रिया (हरिहै) प्रयोगा का एक साथ रख दिया गया है। अनावश्यक और निरर्थक विशेषणो का प्रयोग शलीगत अक्षमता की पक्की पहिचान मानी जाती है। दशरथ के चारो पुत्रो का परिचय देत हुए विश्वामित्र कहत है—

नपमणि दशरथ नपति के, प्रकटे चारि कुमार।
राम भरत लक्ष्मण ललित, अरु शत्रुघ्न उदार॥ (५।३०)

लक्ष्मण के साथ 'ललित' और शत्रुघ्न क साथ उदार विशेषण की यहाँ उनकी चरित्रगत विशेषता के साथ कोई सगति नहीं बठती। केवल चरण और तुक के आग्रह मे य विशेषण यहाँ पर हैं। स्पष्ट ही आचार्य केशवदास के मन म छद के प्रति सम्मान है। भाषा के प्रति नहीं। भाषा का और बुरा रूप वहा दखने को मिलता है जहा वाक्य अधूरे और शिथिल हैं पर अलकार निभान की कोशिश है—

केशव विश्वामित्र के, रोषमयी दृग जानि।
सध्या स। तिहुँलोक के, किहिनि उपासी आनि॥ (५।२७)

'दृग क लिए स्त्रीलिंगवाची रोषमयी विशेषण, तिहुँलोक' के आग का मूल सना अश लुप्त, और किहिनि उपासी का विचित्र प्रयोग—य सब मिल कर भाषा का व्याकरण और शली दोनो ही स्तरो पर विकृत करत हैं। लय की चर्चा पहले हो चुकी है। यहा जोडा जा सकता है कि व्याकरण और शली के त्रुटिपूर्ण होन पर परिचित भाषा के सदभ म लय का कोई अर्थ नहीं रह जाता भाषा यदि अपरिचित हो तो भले ही व्याकरण और शली से अप्रभावित रह कर लय का बोध हो सकता है। लय का सबध भाषा के प्रवाह से है और किसी भी प्रकार का भाषा सबधी त्रुटि प्रवाह को तुरत भग कर देती है।

१५९ इन दोनो संदर्भों का परीक्षण करते समय कई समस्याएँ सामने आती है। मध्यदेस की बोली का क्या अभिप्राय है? क्या 'मध्यदेस की बोली' और हिंदगी यहाँ समानार्थक हैं जैसा भाषा विज्ञान के एक आद्य शोधकर्ता ने सुझाया है। और फिर हिंदगी स्वयं कौन सी बोली है? इसके अतिरिक्त यह भी स्मरणीय है कि 'ब्रजभाषा' शब्द का प्रयोग पुस्तक में कहीं नहीं मिलता यद्यपि अर्द्धकथा की भाषा जैसा हम देखेंगे निर्विवाद रूप से ब्रजभाषा है। इतने से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि जब कवि कहता है—मध्यदेस की बोली बोल। गर्भित क्या कहो हिय खोल। तो उसका अभिप्राय अर्द्धकथा में प्रयुक्त ब्रजभाषा से है जो उस समय समूचे मध्यदेश की काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी यह बात अलग है कि स्वतः अर्द्धकथा में रचनाकार की अपनी असामर्थ्य के कारण काव्यभाषा का सर्जनात्मक रूप न होकर बोलचाल का सामान्य रूप मिलता है। पर मध्यदेस की बोली का अर्थ ब्रजभाषा मान लेने पर प्रश्न उठता है कि अगले संदर्भ में आए हुए 'हिंदगी' शब्द का क्या अर्थ है? वस्तुतः यहाँ हिंदगी का अभिप्राय खड़ीबोली से है जो संतों सूफियों और व्यापारियों के कारण अंतर्प्रान्तीय स्तर की भाषा बन चुकी थी जिसका स्पष्ट संकेत अगले दोहे में मिलता है—

> पढ़ी हिंदगी फारसी भाग्यवान बलवान।
> मूलदास बीहोलिया बनिक वित्त के मेस।
> मोदी ह्वै कर मुगल के आये मालव देस॥

१६० हिंदगी अर्थात अंतर्प्रान्तीय संपर्क की भाषा और फारसी अर्थात दरबार की भाषा इन्हें सीख कर ही मूलदास अपने क्षेत्र से दूर मालव देश में वाणिज्य संबंधी नियंत्रित पा सके। इससे यह भी प्रकट होता है कि ब्रज तो स्पष्ट ही अपने क्षेत्र की बोली है—उसे सीखना क्या? हिंदगी और फारसी सीखने की भाषाएँ हैं और उनका अध्ययन विशेष योग्यता का द्योतक है। इसीलिए शायद अपनी बोली ब्रज का कोई नामकरण स्पष्ट नहीं करता। अपने पूर्वजों के मूल स्थान का वर्णन बनारसीदास ने इस प्रकार किया है—

> याही भरथ सुखेत्र में मध्य देस सुभ ठाँव।
> बसै नगर रोहतगपुर निकट बिहोली गाँव॥
>
> (अ० क० ८)

१६१ इस मध्य देस सुभ ठाँव में स्पष्ट ही मध्यदेश की सरस बोली ब्रज बोली जाती थी—और इसी मध्यदेश की बोली बोल कर अपनी [illegible] बताता [illegible] है—[illegible] मध्यदेश [illegible] दूसरे क्षेत्र की बोली है

जो (४।१०), जु (२।१४), जे (३।१९), जा (१।१४), जिन (२।१८),
जिह (१।३)
सो (२।९) सु (२।१४)
कौन (१।२) को (३।१८), के (१।२), का (१।२), केहि (४।१६)
कहा (४।१८)

१४८ विशेषण—

पहिले (१।१), विनेष (१।१), सब (१।१), कठिन (१।१), कराल (१।१), अकाल (१।१) दीह (१।१) ऐसी (१।२), उदार (१।२), प्रसिद्ध (१।२) नई (१।२), पूरण (१।३), आन (१।३) बुरा (१।१६) स्वच्छद (१।२१), दूसरो (२।१०) सिगरे (३।२८), तेरी (४।१९), मेर (४।२३), अरुन (५।९), न्यरे (५।९), सचो (५।४२)

१४९ परसग—

दीह दुख को (१।१), मृगराज राज-कुल-कमल कहँ (२।१८) तिन सो यो कह्यो (१।७) अवलोकिव को (३।२०) सूरन के मिलिव कहँ (४।१९) ना वखानी काहू प गई (१।२) मुखबास ते वासित होत (३।२०) चदन सी चद्रिका सा कीन्ही (४।९)
जब ते बन माही (२।१५) उठि आसन तें (३।३४) आदि त काहू छुई न (५।२२)।
जब लौं न सुनौं (४।२९)
और नाम को न काम (१।१०) कौन की (१।१), दास के वपुस (१।१) पहिले परकास मे (१।१)

परसग जसे प्रयोग—महँ (१।७), माह (२।१३) माही (२।१५) मध्य (४।१) माझ (५।३४)

सश्लिष्ट परसग—मण.लनि ज्या तोरि डार (१।१) रूप देहि अणिमाहि (१।३) पितहि सुव ल्यावते (४।१३) जिन हाथन हठि हरषि हनत (२।१८)

क्रिया

१५० सहायक क्रिया है (२।१०), हैं (१।४), आहि (५) हुते (५।४४) हुती (३।८)

१५१ मूल क्रिया लहहि (१।१), हरत (१।१) पठव (१।१) तार (१।१) जोव (१।१), भई (१।२), हारे (१।२), वर्णं (१।२), बतावै (१।३) देहि (१।३), पाइयो (१।४) उपज्यो (१।५) लीन्हा (१।६), दीन्हो (१।७), कह्या (१।७), पाऊँ (१।७); टरिहै (१।११), सुनो

पस (ओढने अथवा विछाने के लिए प्रयुक्त मोटा गाढा छ० स० २५४), पोत (बार छ० स० ५८२)।

१६४ पर अद्धकथा के आधार पर तत्कालीन भाषा का एक सामान्य रूप ही जाना-समझा जा सकता है, उसके माध्यम से कोई ब्योरेवार विश्वासप्रद अध्ययन प्रस्तुत नहीं हो सकता। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रस्तुत कृति केवल एक ही उपलब्ध पाडुलिपि के आधार पर सपादित हुई है और यह पाडुलिपि ग्रथ के रचना-काल के प्राय २०८ वर्ष बाद लिखी गई थी। 'अद्धकथा' का रचना-काल लेखक ने स्वत बताया है १६९८ वि० (छ० स० ६५८), और 'प्रति के अन्त में उसका लिपि काल स० १९०२ दिया हुआ है (भूमिका-पृ० ६)। फिर सदेह का केवल इतना ही कारण नहीं है। अद्धकथा में स्थान स्थान पर भाषा का काफी अर्वाचीन रूप मिलता है जो रचनाकाल और लिपि-काल के बीच दो शताब्दियों के अन्तर के कारण स्वाभाविक है। कृति के आरम्भिक अंश मे एक दोहा आता है—

> चले प्रयाग बनारसी रहे फतेपुर लोग।
> पिता पुत्र दोऊ मिले आनद सौं विधि जोग॥
> (छ० स० १४४)

१६५ यहा भाषा का रूप आधुनिककालीन खडी बोली हिन्दी के निकट आ जाता है। वस समूची रचना में यत्र-तत्र खडी बोली के प्रयोग मिश्रित हैं पर उसमें से सबके सब अर्वाचीन नहीं हैं। आगरा नगर में वास के कारण लेखक अपनी ब्रजभाषा के बीच खडी बोली के शब्दों का सहज भाव से प्रयोग करे यह स्वाभाविक है क्योंकि आगरा नगर बहुत दिनों से व्यापार का केन्द्र होने और मुगल साम्राज्य की राजधानी बने रहने की वजह से शिष्ट वर्गों में खडी बोली का व्यवहार करता रहा है। पर आधुनिक खडी बोली से इसका अलगाव स्पष्ट समझा जा सकता है।

१६६ भाषा का जैसा भी रूप अद्धकथा में उपलब्ध है वह स्पष्ट ही ब्रज है। नीचे अद्धकथा में प्रयुक्त सज्ञा रूपों सर्वनामों परसर्गों और क्रियाओं के कुछ प्रतिनिधि रूप दिए जाते हैं जो ब्रजभाषा के हैं जिसका एक पुष्ट प्रमाण उनसे और्कारांत होना है। रूपों के आगे दिए हुए अक छन्द-सख्या के सूचक हैं।

१६७ सज्ञा रूप

बिनौ (६२) पाजरौ (२८०) हियौ (६२०) उदौ (६८६)

१६८ विशेषण

उतावरौ (२२) च्यारौ (२८) पाछलौ (३८) अपनौ (११९), मेरौ

और अन्तर्प्रान्तीय सचरण के काम आती है।¹ अत अद्धकथा म उसका नामकरण मिलता है— हिंदगी।

१६२ इस प्रकार मध्यदेस की बोली का जब यहा अद्धकथा म ब्रजभाषा है जो कुछ क्षेत्रो की बोलचाल की भाषा है और समूचे प्रदेश का काव्यभाषा के रूप म स्वीकृत है पर जिसका नामकरण जमा नही हुआ है। दूसरी ओर हिंदगी है जो विशेष रूप म अतर्प्रान्तीय व्यापार और सचरण की भाषा है। इससे स्पष्ट होता है कि मध्यकाल म ब्रज और खडी बोली दोनो का प्रभुत्व मध्यदेश म एक अवधि के अन्तगत साथ-साथ चलता है। ब्रज राज काज की भाषा नहा हो पाती, हिंदगी जो पहले अन्तप्रान्तीय सचरण की भाषा है आगे चलकर उर्दू के रूप म दरबार की भाषा बन जाती है। ब्रज काव्यभाषा के रूप म विकसित होती रहती है। इस तरह प्रस्तुत कृति म भाषापरक पहला सदर्भ (छ० स० ७) ब्रजभाषा की ओर सकेत करता है और दूसरा (छ० स० १३) खडी बोली की ओर। और ये दोनो ही मध्यदेश की भाषाएँ है, यद्यपि उनके तत्कालीन प्रयोगस्तर म भिन्नता है। खडी बोली का प्रयोग साहित्य म भी होता है—पर उसकी विशेष स्थिति अतप्रान्तीय सचरण म है। ब्रजभाषा मुख्यत काव्यभाषा के आधार रूप म प्रयुक्त होती है। कभी-कभी ब्रज और खडीबोली का सपक्त रूप भी काव्य भाषा के लिए आधार बनता दिखाई देता है।

१६३ अद्धकथा म प्रयुक्त भाषा का रूप विशिष्ट काव्यभाषा का नही है। लेखक अपनी आत्मकथा को सामान्य बोलचाल की भाषा म सुना रहा है ऐसे स्थल प्राय नहा है जहाँ भाषा का सजनात्मक प्रयोग हुआ हो। आदि से अत तक गद्य का ही जस छदबद्ध करके रक्खा गया है। इस भाषा से हम तत्कालीन बोलचाल की भाषा का रूप समझने म सुविधा हो सकती है। रचना की भाषा ब्रज है और लेखक के जीवन के बहुत से महत्त्वपूर्ण वर्ष आगरा नगर म वाणिज्य के सिलसिले म बीते इसलिए प्रस्तुत कृति म तत्कालीन आगरा नगर के व्यापारी वर्ग की सामान्य बानी का कुछ आभास मिलता है। कुछ शब्द जो आगरा के क्षेत्र म विशेष रूप से व्यवहृत होते हैं अद्धकथा म यत्र-तत्र प्रयुक्त हुए है जैसे

---

१ अतर्प्रान्तीय व्यापार और खडी बोली के सबध का विस्तृत अध्ययन राम विलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भाषा और समाज' (नयी दिल्ली १९६१) के 'जातीय भाषा का गठन और प्रसार' शीर्षक अध्याय मे प्रस्तुत किया है। सतो-सूफियो के माध्यम से खडी बोली के प्रसार का अध्ययन शितिकठ मिश्र के शोध प्रबध 'खडी बोली का आदोलन' (वाराणसी १९५६) के प्रथम अध्याय मे हुआ है।

जगह प्यौं' रूप द्रष्टव्य है) और कुछ शब्दों में हल्के-से प्रत्यय लगा कर (मत-रौहै या 'सवाल्लि' जैसे विशेषण) बिहारी ने इन शब्द रूपों को नया संस्कार दिया है। ध्वन्यात्मक और व्याकरणिक दोनों स्तरों पर कवि की यह भाषिक तराश रीतिकालीन मनोवृत्ति और मुगलकालीन कला की बारीक-पसंदी के समानांतर चलती है। इस संदर्भ में बिहारी को रीतिकालीन काव्यभाषा का प्रतिनिधि स्रष्टा कहा जा सकता है। क्षेत्रीय दृष्टि से इसका एक कारण यह भी है कि बिहारी ने कुछ बुंदेली शब्द रूपों के साथ अपने काव्य में मथुरा-आगरा की औ रूप प्रधान केन्द्रीय ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। भाषा और संस्कृति का अविच्छिन्न संबंध है। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि बिहारी के शृंगारवर्णनों में ब्रज क्षेत्र की तत्कालीन संस्कृति का केन्द्रीय रूप प्रतिफलित हो। बिहारी की नायिका—शास्त्रीय ग्रंथों से बाहर—अपनी सज्जा, बोली बानी और चेष्टाओं में ठेठ ब्रज की युवती है। राधा-कृष्ण की भक्ति और शृंगार की जीवंत परंपरा बिहारी के माथुर चतुर्वेदी संस्कार के साथ बड़े सहज भाव से मिल गई है जिसके फलस्वरूप उनके काव्य में एक ओर काव्य शास्त्रीय अभिप्रायों की शृंखला है और दूसरी ओर ब्रज की स्वच्छंद और रस-मय जीवन-पद्धति है। स्वच्छंद और उन्मुक्त जीवन पवित्र प्रेम और साथ ही उपपति तथा जारज संतान के संकेतों से युक्त बिहारी की दुनिया और समाज उनकी भाषा में पूरी तरह से रचा गया है। काव्यभाषा के रूप में ब्रज की लंबी ऐतिहासिक परम्परा के बीच बिहारी की काव्यभाषा उनकी अपनी ही उक्ति का स्मरण कराती है—

> अनियारे, दीरघ दृगनु किती न तरुनि समान।
> वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान॥

प्रस्तुत अध्ययन में कविवर जगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा संपादित 'बिहारी रत्नाकर (नवीन संस्करण ३) को आधार बनाया गया है और उद्धत दोहों की संख्या उसी के अनुसार दी गई है।

१७६ विशेषणों के प्रयोग में कवि की सतर्कता विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। अनुभव के वशिष्ट्य को सही से सही पकड़ के लिए विशेषणों का प्रयोग किया जाता है। पर वशिष्ट्य की हर मात्रा और परिमाण के लिए अलग-अलग विशेषण सुलभ हों यह जरूरी नहीं है। तब कवि अपने चुने हुए विशेषण की आवश्यकता के अनुरूप तराशता है। बिहारी ने -आह प्रत्यय सनाओं में जोड़ कर—और कभी-कभी विशेषणों में भी—गम ना विशेषण बनाए हैं। ब्रज में 'सतर' विशेषण का अर्थ है माथा सीधा हुआ। अब कवि को ऐसा विशेषण

(१६०), नीकौ (२०७), वडौ (२५८), नयौ (३६९), विस (५८२), मीठौ (६३८)

१६९ सवनाम

ता (२) तिस (६), तिन (११२)

१७० परसग

कू (१९१), कौ (२२) ताइ (५)
सा (१८)
कौ (१५), की (६)
मैं (२०८), कने (३१), लौं (११)
सश्लिप्ट परसग द्वार (२१६), घौरहर (२३८)

१७१ सहायक क्रिया—हुतो (३२०) हुती (३३०)

१७२ क्रिया

कीन्यौ (२) भयौ (१७), दीनौ (२७), कीनौ (४१) गयौ (८६), मिल्यौ (५८) कह्यौ (५८) अगयौ (अगीकार किया ६२) वठयौ (१२१), रह्यौ (१२८) मानै (२०१) भये (२०८) दीस (२५५) काढि (पूवकालिक कृदत ५०३)

१७३ अद्धकथा म प्रयुक्त व्रजभाषा के इस रूप के बीच-बीच म खडी वाली क प्रयाग आ जात ह। इनकी स्थिति व्रज और खडी बोली के सपक्त रूप म साधारणत मानी जा सकता है। अथवा इनकी पष्ठभूमि म लेखक का आगरा नगर के व्यापारिक वग स सबद्ध होना भी दखा जा सकता है जो खडी-वाली का प्रतिष्ठा और प्रसार का एक मुख्य माध्यम रहा है।

१७४ अद्धकथा म आए सदर्भो और उसके भाषिक विश्लेषण की सहायता स मध्यकाल म मध्यदेश की भाषा सबधी स्थिति पर प्रकाश पडता है। यह स्पष्ट दखा जा सकता है कि व्रजभाषा उस समय मध्यदेश की प्रतिष्ठित काव्य-भाषा थी—इसीलिए बनारसीदास स्वय 'मध्यदेस की बोली बोल' कह कर अपनी आत्मकथा की रचना बोलचाल की भाषा म करते हैं—और खडी बाली का महत्त्व मध्यदेश और उसके वाहर अतर्प्रान्तीय व्यापार तथा सास्कृतिक सचरण स जुडा हुआ था।

बिहारी

१७५ बिहारी की काव्यभाषा म रीतिकालीन भगिमाएँ अच्छी तरह देखा जा सकती हैं। शब्दा की तराश पर यहा विशेष बल है जिस दो रूपा म कवि न बनाया है। कुछ शब्दा का ध्वन्यात्मक अनुकूलन करके (पिय का जगह-

शायरी का भाषिक विधान स्मरण आता है जहाँ 'ही' 'भी' या 'गाया' जैसे शब्द समूचे अर्थ में गुणात्मक अंतर उपस्थित कर देते हैं। हिन्दी कविता में रीतियुगीन काव्य से इन छोटे और अभिन्न अव्यय शब्दों की सृजनात्मक पहचान उत्तरोत्तर बढ़ी है। बिहारी की काव्यभाषा में ये अव्यय व्रज की समीकरण प्रिय प्रकृति के कारण बहुत बार सना शब्द रूप में संश्लिष्ट रहते हैं। और में -ए (ही), 'छाँहौ' में -ओ (भी) न केवल इन शब्द रूपों का वरन पूरे के पूरे वाक्य के अर्थ को रूपांतरित कर देते हैं। इसी प्रकार से 'ई' और 'ऊ' के प्रयोग हैं। कुछ व्यावहारिक उदाहरणों में ये प्रयोग और स्पष्ट होंगे —

और—(ऐ=ही)

राति रमी रति वेति करि और प्रभा प्रभात (२३)
वह चितवनि और कछू, जिहिं बस होत सुजान (५८८)
नाउँ सुनत हीं ह्वै गयौ तनु और, मनु और (५९९)

औ (भी)

देखि दुपहरी जेठ की छाहौं चाहति छाँह (५२)
सखो बिलखि दुरि जात जल, लखि जलजात लजात (५५)
वाकौं अति अनखाहटौ मुसकाहट बिनु नाहिं (४६८)

(यहाँ स्मरणीय है कि इन दोनों अव्ययों में—जो यहाँ प्रत्यय की तरह प्रयुक्त हो रहे हैं—अर्द्धविवृत ए और ओ ध्वनि का ही प्राधान्य है)

ऊ—(भी)

लपट बुझावत बिरह की कपट भरेऊ आइ (३३)

ई—(ही)

इन दुखिया अँखियानु कौं सुखु सिरज्यौई नाहिं (६६३)

ही हू और भी जैसे सामान्य अव्यय रूपों की तुलना में उनके ये ध्वन्यात्मक रूपांतर (ए ओ ऊ ई) प्रत्यय की तरह प्रयुक्त होकर अर्थ को और सघन बनाते हैं। इन दुखिया अँखियानु कौं सुखु सिरज्यौई नाहिं में मानो विरहिणी की सारी वेदना और विवशता अव्यय प्रत्यय ई में सकेंद्रित हो गई है। दूसरी तरह का उदाहरण वह प्रसिद्ध दोहा है— नितप्रति पून्यौई रहै आनन-ओप उजास (७३) जहाँ भी अतिशयोक्ति का स्रोत ई अव्यय है। परवर्ती उर्दू शायरी में इन अव्ययों के अर्थवान प्रयोग की चर्चा पहले की गई है गालिब के काव्य से तुलना के लिए कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

'जिंदगी यों भी गुजर ही जाती
क्यों तिरा राहगुजर याद आया।

म निहित तीव्रता कम करने की जरूरत महसूस होती है। इसके लिए वह 'सतर' स रूप बनाता है 'सतरौंहैं'—

सकुचि न रहियै, स्याम, सुनि ए सतरौंहैं बैन (७२)

नायिका के ऊपर स रोष-युक्त, पर अंदर ही अंदर प्रेम भाव से प्रेरित वचनो के लिए 'सतरौंहैं' प्रयोग बडा सटीक बठता है। इसी स मिलते-जुलते अन्य रूप कवि ने बनाए है—ललचौंहैं (१२) खिसौहैं (६५), रिसौहैं (६५) हसौंही (१००), रुखौंहैं (४१४), आदि। 'संवाद से संवादिलु' (१३२) और 'तल' स 'तिलौछे' (३१४) भी ऐसे ही प्रयोग हैं जो तत्कालीन जन-बोली से लिए गए भी हो सकते हैं और सादृश्य के आधार पर कवि द्वारा गढे हुए भी हो सकते है। वहरहाल इन विशेषणो म कवि की सप्रेषण प्रक्रिया का सही और अचूक रखने की रचना चिन्ता देखी जा सकती है जो भाषिक विधान का अभिन्न अग है।

१७७ विशेषणो के अतिरिक्त जन-बोली म लिए गए—या गढे गए-अन्य अनेक सज्ञा और अव्यय रूपो का विश्लेषण भी इस सदर्भ म फलप्रद होगा। इन ठेठ प्रयोगो स एक ओर कवि की अभिव्यक्ति पना होती है दूसरी ओर भाषा का रूप प्रामाणिक होता है। अनआएँ (बिना आए ३६) भटभेरा (शरीरो का भिडना—२४३) तरौंस (तट के निकट का हिस्सा—२९२) खत (घाव २९८) अनख (क्रोध-खीज-३३२), कमनती (धनुष विद्या ३५६) त्यौनार (कुशलता ४८०) महूप (शहद ५२२) वह्निापुली (वह्नि जसा सम्य भाव-६१४) इसी प्रकार क प्रयोग हैं। अनआए-जो आधुनिक काव्यभाषा की भगिमा के निकट पडता है तरौस अथवा कमनती जसे रूप हल्के स उपसर्गो या प्रत्ययो के लगने म बने है और कवि की शब्द सबधी परख का अच्छा परिचय देते हैं। ब्रज की ठेठ शब्दावली के प्रयोग का एक प्रमाण यह भी है कि बिहारी की काव्य भाषा म अर्द्धविवत ध्वनियो ऐं औं (सामान्यत ऐ औ के रूप म लिखी जाने वाली) का आधिक्य है जो ब्रजभाषा की अपनी विशिष्ट ध्वनिया कही जा सकती हैं। अनुनासिक स्वर ध्वनियाँ प्रकृत्या अर्द्धविवत होती हैं और ब्रजभाषा म इनका प्रयोग अपक्षया अधिक है। बिहारी की ब्रजभाषा म भी इनका बाहुल्य परिलक्षित किया जा सकता है।

१७८ काव्यभाषा म सज्ञा शब्दो का महत्त्व निर्विवाद है पर अन्य तरह के शब्दो के माध्यम स भी अभिव्यक्ति की बहुत-सी भगिमाएँ सभव होती है। छोटे और निर्विकार से दीखने वाले अव्यय शब्द पूरे के पूरे वाक्य म अर्थ को कसे विकसित करते हैं यह बिहारी की काव्यभाषा म देखा जा सकता है। यहाँ उद्

है। दोहे की लय को ठीक रखने के लिए या कहीं किसी विशेष शब्दावली पर ध्यान आकृष्ट करने के लिए अपेक्षया अधिक आत्मविश्वास के साथ वाक्य विन्यास को अस्त-व्यस्त किया गया है। लय की चिंता का उदाहरण इस दोहे में देखा जा सकता है—

है हिय रहति हुई छई, नई जुगति जग जोइ (५०२)

यहां व्याकरणिक क्रम में वाक्य रहना चाहिए था— हिय हुई छई रहति है। पर कवि ने संयुक्त क्रिया छई रहति है के तीनों तत्वों को बड़ी कुशलता से पलट कर अलग-अलग रख दिया है— है हिय रहति हुई छई जिससे लय ठीक हो गई है पर व्याकरणिक स्खलन का एहसास नहीं होने पाता। वाक्य विन्यास को दूसरे रूप में वहाँ छेड़ा गया है जहाँ कवि किसी शब्दावली की ओर खास तौर से ध्यान दिलाना चाहता है, उदाहरणार्थ—

त्यों गुलाल-मुठी मुठी झझकावत प्यौं जाइ (५०३)

यहाँ प्यौं झझकावत जाइ वाक्य का यह सही विन्यास भी हो सकता था, बिना लय को बिगाड़े हुए। पर झझकावत जाइ संयुक्त क्रिया की भंगिमा पर बल देने के लिए उसे जान बूझ कर तोड़ दिया गया है। शब्दों की यह तराश और वाक्य विन्यास के साथ यह स्वच्छंदता जितना कवि के बढ़ते हुए आत्मविश्वास की द्योतक है उतनी ही ब्रज की काव्यभाषा के रूप में विकसित हुई क्षमता को भी सूचित करती है।

१८१ बिहारी की काव्यभाषा के सीमित व्याकरणिक विश्लेषण के निष्कर्ष इस प्रकार प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

१८२ **संज्ञा**

बली रूप हियौ (२७) टीकौ (१०१) ससौ (१२८) हमौ (१२८) दियौ (१३०) दमामौ (१३१) गहनौ (१९१) उगहनौ (२७२) जवासौ (३२९) अचरौ (२१३) निहारौ (६००) पारौ (६३०) तमासौ (१ ८) मावतौ (५६८) मरोसौ (६८२)

१८३ **बलहीन रूप** नव (१) नागरि (१) तन (१) झाँइ (१) दुति (१) स्याम (१) अंग (२) जोबन (२) नपति (२) न्दु (५) जाह (७) जोगु (१८) तपा (२१) चितवनि (२०) चटपटा (२३) परागु (३८) जज्जात (५) गुड़ा (१३) उडादर (७) चम (०१) बगार (५०५) मुरनि (१५२)

१८४ **सर्वनाम—**

हौं (८) मैं (९८) मा (२३) हम (१०३) मगा (१)

रेख़्ते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो, 'ग़ालिब'
कहते हैं, अगले ज़माने में कोई 'मीर' भी था।

सना और क्रिया के साथ-साथ कविता क भाषिक विधान म उपसग प्रत्यय या अव्यय जस सामान्य, छोटे और निरीह स लगन वाले प्रयोगा का महत्त्व दना यह एक एसी प्रवत्ति है जो रीतिकालीन काव्य और उदू शायरी के भाषिक मिजाज़ का समान विशिष्ट तत्त्व है। वाक्य म सना और क्रिया के प्रधान शब्दा का इन उपसग प्रत्यय-अव्यया की सहायता स परिमार्जित-सशोधित करना इस रूप म कि ये उपसग प्रत्यय-अव्यय अपना गुणात्मक महत्त्व विकसित कर ल आलोचना के मुहावरे म 'तराश' कहलाएगा जा हिंदी क्षत्र की उत्तरमध्यकालीन काव्यभाषा का एक खास भगिमा दता है। रीतिकाल म ब्रजभाषा की तराश क लिए बिहारी ठीक ही विख्यात ह।

१७९ बिहारी की काव्यभाषा का विवचन करत समय इस तथ्य का भी ध्यान म रखना हागा कि उन्हान अपनी अभिव्यक्ति के लिए मुक्तक रूप म दाहा जसे छाटे छद को चुना है जा फिर उदू कविता के शेर से तुलनीय ह। ग़ज़ल का सपूण रूप स्वतन्त्र अस्तित्व लिए हुए इन शेरा म ही बनता है जा कथा वस्तु के स्तर पर एक दूसर से सबद्ध होत हुए भी अपन भाषिक विधान म अलग-अलग है। मध्यकाल म दोह और शेर का मुक्तक रूप दरबारी परम्परा के काव्य से जुडा हुआ है। जिस भाषिक तराश का ऊपर उल्लख किया गया उसकी रचनात्मक आवश्यकता बहुत कुछ मुक्तक शैली के इन छोट छदो क चुनाव स भी सबद्ध है। उपसग, प्रत्यय अथवा अव्यय जसे छोटे शब्द या शब्दाशा का महत्त्व इस सदभ म अच्छी तरह समझा जा सकता है। इन कविया का छोटे स छाटे शब्द का सही और पूरा साथक उपयोग कर लेना था व सिफ चरण-पूर्ति के लिए इन अव्यया का अपव्यय नही कर सकत थ। दोहा तो रीतिकाल के ही कवित्त और सवय की तुलना म बहुत छोटा छद है। शायद इसीलिए बिहारी की भाषा जगह जगह समास शली का आश्रय लेकर भी चलती है—

खौरि-पनिच भृकुटी धनुषु बधिकु समरु तजि कानि
हनतु तरुन-मग तिलक सर सुरक भाल, भरि तानि (१०४)
सगति-दोष लगै सबनु, कहे ति साचे बैन
कुटिल बंक भ्रुव-संग भए कुटिल, बंक-गति नैन (३०३)

१८० शब्दा की भगिमा के साथ-साथ बिहारी ने वाक्य विन्यास पर भी ध्यान दिया है। काव्यात्मक स्वच्छदता का उपयोग करते हुए बिहारी ने यथा वश्यक रूप म वाक्य क्रम को उल्टा-पुल्टा है। एसा प्राय दो स्थितियो म हुआ

संश्लिष्ट परसग (विभक्ति)

जा तन की झाइ परै (१) लखि रीझिहौ छबिहिं (८), गीधे गीधहि तारि (३१) आरसी हिय लगाई वाम (३४) फारि निहार नैन (कृदत म संश्लिष्ट परसग ५९०)

इन उदाहरणा स स्पष्ट है कि हिं प्रत्यय कम सप्रदान के अथ म प्रयुक्त हुआ है तथा एँ प्रत्यय करण के लिए और अधिकरण के लिए।

१८८ क्रिया

सहायक क्रिया—सहायक क्रिया के स्वतन्त्र प्रयोग विरल है। वतमान काल की अवधी सहायक क्रिया आहि के कई प्रयोग मिलते है उदाहरणाथ—अब मुहु आहि न आहि (५६)

सहायक क्रिया का यह रूप पूर्वी प्रभाव के रूप म देखा जा सकता है।

१८९ मूल क्रिया—हरौ (१) होइ (१) कीन (२) दई (३) उपज्यौ (५) मोगव (५) निकसति (६) रीझी (८) रीझिहौ (८) रहतु (१०) भयौ (१०) तज्यौ (११) लग्यो (१९) जनायौ (२९) रहिहै (३१), छुवायौ (३४) लगाई (३४) बुझाइ (३७) बँध्यौ (३८) करौ (४७) लेहुगे (८९) तजो (८९) दई (५१) जरति (५४) कहिहै (६०) जएरि (८१) चलिए (८४) फूलति (८४) हरौ (१०१) हारा (१०७) करौ (१०८) बूड (१२१) बसौ (३०१) सँमारिहै (३२२) लगिहै (५८६) आने (६०१)

१९० सयुक्त काल—सालति है (६) बने हौ (२२) करत है (३२) करतु है (५१) फिरत हौ (६१) उठति है (११९) जानति हौ (८६९)

१९१ सयुक्त क्रिया—कहि चल (३) मिलि गई (७) कहि दीनौ (२८) लागन लगी (२८) जनि न्यौ (२९) जाई क (३१) बठि रही (५२) ढुरि जात (५५) रहा कराहि (५६) लगी रहै (६२) लै जाति (१०८) बन्त जात (१११) घरि रह (१२६) चाहत फिरन हौ (१२६) मिलि गए (१२८) जानि गई (२००) परयौ रहौ (२८१) वरि रहा (२८६) बढि जाइ (३३१) बरसन रहत (८८२) नटि जाइ (८७२) छुटिगौ (८८५) टिकि रह (५१८) लकि जाइ (५३२) न दयौ (५३५) बिगारि गौ (५१२) हँसि दत (५६८) पसीजति जाति (५९८) चढि रह्यौ (९९) चलि जाहि (६१०) पा न्यौ (६१८) उपटति जाति (६९१) समुजि परगा (६९६) लुटि गौ (६९८) पावौ करि (७०६)

तू (२५), तू (६९६) ता (२५), तुम (६८) तँ (३०१) तुम्हार (३९), तिहारौ (११४)

आपु (४४), अपने (२)

वा (३३) वह (८०१) वे (८३१) उहि (६८१) माइ (१) ता (८१)

या (३४५), इह (६६) जा (१) जिहिं (४१)

कौन (१३) कौनु (१८) को (६८) कोई (५३)

का (६३), कहा (४७) किहिं (६ २)

१८५ विशेषण

बली रूप—वडौ (२) नीकौ (१०५) खरौ (१३२) भलौ (१८८), बाधौ (१८१) प्यारौ (२९६) नीचौ (३२१) ऊँचौ (३२१) डहडहौ (३२९) नयौ (३७०) भलौ (३८१) मतो (३९६) चीकनौ (३९७), ओघरौ (८११), छबीलौ (५३८) बुरौ (५८४)

१८६ बलहीन रूप—हरित (१) प्रवीन (२) मनु (५) नीकी (११) लल्चौह (१२) लौन (२८) रूखे (२९) खिसौहैं (६५) रिसौहैं (६५) नाक (६७) सतराहैं (७२) हँसौहा (१००) बिय (१२२) डहडही (१२२), सवाल्लि (१३०) तिलौंछे (३१८) मतर (८१२) तोत्र (१०,) चारु (५०५)।

बिहारी की विशेषण गठन की क्षमता के संबंध में इस विवेचन के आरंभ में ही चर्चा की गई है।

१८७ परसग

भवन कों चलिए (८४) महावरु दन की (३०) पिय तिय सौं हँसि क कह्यौ (४२)।

छल सो चली छुवाइ क (१२) कहा लेंटुग मेरु प (८९)

देखत दई अपने हिय त, लाल (१२२) हरिनी क ननानु त, हरि, नीके ए नैन (तुल्नामूलक ६७)

पिय बिछुरन कौ दुसहु दुख (१५), जा तन की झाइ (१) अपन अग के (२) मौंधे के डारें (७)

जुवति जोन्ह म मिलि गई (७) ता पर वारौ उरवसी (२५)

परसग की तरह प्रयुक्त शब्द

सुभी जिय माहि (६) डटि घूघट-पट माहु (१२), उठति दिय लौं नादि (११८) बन-तन कौं निकसत (१८७) आखिन माँच अगोटि (२५०) तौ लगि भूप न जाति (०८) चले गली माँहि जात (६७८)

सरचना की दृष्टि स सयुक्त क्रिया का सबसे ल्म्बा रूप दो मूल क्रिया और एक सहायक क्रिया के याग स बनता है—चाहत फिरत हौ (१२६)

१९२ नामधातु—होमति (५४) अधिकाति(११२) सतराइ (५०३), बतराति (५०४)

१९३ कृदत—वतमानकालिक—मवत (२०)

भूतकालिक—ढाके (९) मरी (५९) फूल्यौ (५९७)

पूवकालिक—जानि क (२), क क (५८५)

क्रियायक सज्ञा—दन (३५) मेल्न (४५) जरिवौ (११०) दबौ (२९५) लवै (३८६)

१९४ अव्यय

विहारी की काव्यभाषा म पूव परम्परा स भिन्न रूप म अव्ययो के विशिष्ट प्रयाग की चर्चा पहले की जा चुकी है। यहा कुछ स्फुट उदाहरण दिए जा रहे हैं—

और (२३), मल (४५) कित (५७) जिन (६६) क्यो (१०२) वत (१३७), नाहिन (वलाथक निषध ८८८) नर (६०१)।

भूषण

१९५ भूषण के काव्य म रीतिकाल माना वीरगाथाकाल से सपर्कित होता दिखाई देता है। उनकी काव्यभाषा मे एक ओर अलकारो का प्रयत्नपूवक नियोजन है और दूसरी ओर वीररस की व्यजना के लिए द्वित्व व्यजन (दुग दुग्ग, उद्ध उद्ध समथ समथ्थ भम्भर खड्ग खग्ग) मूद्धन्य ध्वनिया (मुडि क धमड अरि चड्मड चावि करि) और सयुक्त ध्वनियो को खोल कर प्रयुक्त करने की प्रवत्ति (पाथ पारथ युद्ध कुरुख तीक्ष्ण तीखन रक्त रकत प्रभा परमा) व्यापक रूप मे मिलती है। सामायत सयुक्त ध्वनिया वीररस की व्यजना क अनुकूल मानी जाती हैं पर तीखन या रकत जसे जानबूझ कर विकृत किए गए प्रयोगो म कवि मानो एक एक ध्वनि पर अलग-अलग वल देकर समूचे भाव को अधिकाधिक चित्रोपम बनाता हुआ जान पडता है। इसीलिए 'रक्त की तुलना म रकत म खून खराब की व्यजना अधिक है और तीक्ष्ण की अपेक्षा तीछन म तेजी अधिक है। वीररस के सदभ म भूषण द्वारा अमृतध्वनि' का प्रयोग इन परुष ध्वन्यात्मक वत्तियो का एक सश्लिष्ट रूप है। इस दृष्टि से भूषण म रीतिकालीन वत्तियो का वीरत्व की व्यजना के लिए प्रयाग अपने आप म दिलचस्प लगता है। प्रस्तुत अध्ययन का आधार-पाठ विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सपादित भूषण है छद सख्या शिवभूषण क अनुसार है।

२०५ क्रिया

सहायक क्रिया—हैं (१९) ह (२०) हो (३९) हुत-है (-२१), हुत (२२८),
हुत्यो (२८६)।

२०६ मूल क्रिया—विराजो (१) गाम्य (१) भयो (५) जात्यो (१३)
निहारयो (२८) साते (८८) आयो (१२१) गहत (१३७) परगा (१४०),
वचेगा (खडीबोली) (१४१) गरजा (खडाबाला) (१४१) आया (खडाबाली)
(१४५) वचिहा (१६१) तु० खडीबोली रूप वचगा दुरा कह (१६१), चल
(३००) दाम (३१८) जाइहै (२७)।

२०७ सयुक्त काल—होत है (१९) उतरति है (१३) करत हो (७०)
मलति है (१०६) जावत है (१५१) पढे है (१५१) विचरत हैं (१५९),
पठाई हुती (१९७, कटायो है (३०४), पदतु है (३१०)

२०८ सयुक्त क्रिया—छाडि गयो (३९) जीति लई (११०) भूलि गयी
(१४२) परखि करि लेत हो (१४८), छूटि गए (१६१) गहि वठा (१७९),
बोलि उठे (२८६) लूटि लए (२९६) करि आयो है (३०४)।

चार तत्वा तक स बन हुए सयुक्त क्रिया के रूप मिलत है—परखि करि लेत
हौ (१५८)।

२०९ नामधातु—असीम (३१४)।

२१० कृदत—पूर्वकालिक-जानि क (१) जीति (२८) ल (५९)

२१० कृदत—पूर्वकालिक-जानि क (१) जीति (२८) ल (५९)
क्रियार्थक सज्ञा—जाचन (२१) आदव (६२) जीवो (८१) बूनिव (३२२)।

२११ अव्यय

यह (१) त (५९) विना (६१) काहे (७०) ही (८१) हूँ (१०२) किल
(११४) ऊ (१५६) प (१६३) जहा (१६८) एन (१७०) अगार (१८८) तहाँ
(१८८) वहा (२००) अरु (२९८) क्ति (३००) जो (३०१) मति (३२१)।

मतिराम

२१२ लक्षण ग्र था का परपरा स पूरी तरह सबद्ध रहन पर भी मतिराम
का काव्य-वशिष्ट्य जितना प्रगल्भ ह उतना हा सवदनशील भी। रीतिकालीन
सदर्भ मे मतिराम का काव्यभाषा अपनी सफाइ और अथसपन्नता के लिए बार-बार
उल्लिखित होती ह। मतिराम ग्र थावली की भूमिका म कृष्णविहारी मिश्र न
लिखा है— इस भाषा क कवियो म जहाँ तक भाषा साम्य का सबध ह वहाँ तक
कविवर मतिरामजी स बड कर अच्छी भाषा लिखन म कोई भी कवि समथ
नहीं हुआ है। इसक कहन म हम कुछ भी सकाच नहीं कि सूर तुलसी, देव,
बिहारी और पद्माकर आदि कोई भी कवि भाषा-सौदय म मतिराम का पीछे

गगन (१८), तरग (१८), मिकार (८४) परभात (९२) क्षिति (९५) माहम (९८) परताप (९८), ननन (१३७) दिल (१६५) नीति (१६८) वयरनि (१५६), अगारे (१७५) वितान (१९५) मति (२१६) अमरष (२३६) त्रास (२८७) जीउ (३००) कटक (३०४) जगत (३६३) जहान (३४३)।

२०१ सर्वनाम—

मैं (७०), मो (७०) मेरा (खडीबोली रूप) (१६५) हम (१५८)

तू (१३५) त (१६२) तुम (१५८), ता (३९) तुम्ह (७०) तेरा (४८)

तिहारो (२३८) रावरे (२४०)।

व (१८९) वा (३०१)

आपुनी (२४२)

जौ (३०४), जा (७) जे (९८), जिन (१५६)

सो (११) ता (१३) ते (९८) तिन (६)

य (८६) या (३०४)

को (७४)

का (३९)

२०२ विशेषण बली रूप—बडौ (६) ऊचौ (५३) सुहानौ (९२) अकेलौ (१३५) नीको (१३८) खरौ (१६९) साँवरौ (२१०) थूठौ (२४८) छाटौ (२४९) सीरौ (२४९) साचौ (३०५)

२०३ बलहीन रूप—अकथ (१) अपार (१) सुभ (१८) अमल (१८) कामत्र (१८) सकल (२४) चारु (१६८) उदार (१७७) सुकुमार (१८९) विकरार (१८९)

२०४ परसग—

न (२१८)

कौं (१०) सा (४०)

मो (६५) त (८)

को (क लिए) (८८)

त (२५) त (तुलनामूलक) (२१)

क (१) का (१०) कौ (१०) क (२८)

मा (१), म (१६), माहि (७८)

सम्लिष्ट परसग (विभक्ति)—हिय (१) महिपहि (२) तुरकान (२८) दुनिय (२९) सरूपहि (१६७) किय- (क्रियार्थक सज्ञा म सम्लिष्ट रूप) (१००)।

परसग की तरह प्रयुक्त शब्द—राहि (२), लगि (२०) तौ (२९)

का उल्लास है, पर जो थोड़ा ही अतिकथन में अश्लीलता की स्थूल-दृष्टि में बदल सकता था। उल्लास और अश्लीलता का सूक्ष्म और महत्वपूर्ण अंतर भाषिक स्तर पर है।

२१४ बिंब रचना के क्षेत्र में मतिराम के कुछ प्रयोग बड़े मौलिक और ताजगी लिए हुए हैं। वय संधि का वर्णन एक रीतिकालीन रूढ़ि कहा जा सकता है। इस रूढ़ि को मौलिक बिंब में संक्रमित कर देना बड़ी भाषा-क्षमता की अपेक्षा रखता है। ज्ञातयौवना का उदाहरण मतिराम ने इस प्रकार दिया है—

> कानन लौं लागे, मुसकान प्रेम-पागे, लौने,
> लाज भरे लागे लोल लोचन-अनंग ते,
> भाव धरि भुजनि डुलावति चलति मंद,
> और ओप उलहत उरज उतंग ते।
> मतिराम जोबन-पवन की झकोर आय,
> बढ़ि क सरस रस तरल तरंग ते,
> पानिप अमल की झलक झलकन लागी,
> काई-सी गई है लरिकाई कढ़ि अंग ते॥

सांग रूपक पर आधारित होते हुए भी अपनी अंतिम पंक्ति में यह बिंब इस तरह संपन्न होता है कि सांग रूपक के ब्यौरों पर ध्यान न जाकर सौंदर्य वर्णन की अनेक प्रच्छन्न तहें खुल जाती हैं। प्रस्तुत कवित्त के अंतिम चरण में प्रयुक्त श्लेष और यमक भी भाषा प्रयोग में उभरते नहीं, वरन समूचे बिंब में समरस हो गए हैं। रीतिकालीन अलंकरण को अतिक्रमित कर जाने में मतिराम के इस बिंब की प्रभावशालिता अच्छी तरह देखी जा सकती है।

२१५ इसी प्रकार मतिराम की बिंब रचना कहीं-कहीं उस स्तर का स्पर्श करती है जहाँ वर्णन का प्रयोग बिंब की तरह है जो आधुनिक युग में नयी कविता का एक विशिष्ट भाषा सिद्धि मानी जाती है। मतिराम के प्रसिद्ध सवैये का वशिष्ट्य इसी प्रक्रिया में समझा जा सकता है—

> ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधर रस लीजै।

वर्णन की दृष्टि से वनमाल का हृदय से और मुरली का अधरों से लगा रहना यथार्थ क्रियाएँ हैं किंतु इन्हीं के बीच से प्रणय प्रसंग का एक अंकुठ पर सूक्ष्म बिंब विकसित होता है। अनुभव की तन्मयता में इसका ध्यान ही नहीं रह जाता कि यह परकीया का उदाहरण है। यद्यपि सवैये के बाद वाला दोहा तो संवेदना के स्तर पर बड़ा अटपटा लगता है—

नहा छोड पात हैं।" (पृ० ७८) इसके पूव भूमिका लखक ने कविता की भाषा क सबंध म अपना सामान्य मतव्य इस प्रकार प्रकट किया है—'कविता की भाषा म लचकालापन, सामजस्यपूण भाषा प्रवाह एव अलकार प्रस्फुटन की पात्रता होनी चाहिए।' (पृ० २१) प्राय चालीस वष पूव निर्धारित काव्य-भाषा की इस कसौटी स मतभेद हो सकता है या इस और परिष्कृत किया जा सकता है। मतिराम की काव्यभाषा की श्रेष्ठता क बार म कृष्णविहारी मिश्र का जो मत है उसके सबध म भी आज कुछ अतिरजित प्रशसा का भाव लग सकता है जो प्रस्तुत प्रबध की प्रकृति के अनुकूल नही बठता। फिर यह भी उल्लेख्य है कि किसी एक कवि के बारे म लिखते समय ऐसी एकात प्रशसा सभव है पर जहाँ सभी मध्यकालीन कविया का विवेचन अभीष्ट है वहाँ उक्त भगिमा के साथ लिखना न सगत लगगा और न आवश्यक। पर इन टिप्पणिया स यह अवश्य सोचा जा सकता है कि मतिराम की काव्यभाषा रीतिकालीन परपरा म पूरी तरह घुली मिली रहने पर भी अपना एक अलग वशिष्टय रखती है।

२१३ इस वशिष्टय की पहिचान क लिए जब हम उद्यत होत हैं तो देखत हैं कि मतिराम की काव्यभाषा रीतिकालीन सदभ म प्रगल्भता और मित-कथन का सधि बिंदु ह। वणन की अतिरजना रीतिकालीन काव्यभाषा का औसत मिजाज कहा जा सकता है। दूसरी ओर रीतिकाल म ही घनआनद जसा कवि भी हुआ जो अपने मितकथन क लिए विख्यात है। मतिराम की काव्यभाषा म जसा कहा गया इन दोना प्रवत्तिया का सधि बिंदु मिलता है। इसलिए उनक मानवीय प्रणय प्रसगा के वणन अकुठ है। मध्या का जो उदाहरण कवि न दिया है—

केलि-भवन की देहरी, खरी बाल छवि लोल।
काम कलित हिय को लहै, लाज कलित दृग-कोल॥

कुछ ऐसा ही अथ का द्वद्वात्मक रूप उनकी भाषा म मिलता है। प्रगल्भता और मितकथन का यह दुहरा रूप शृगारिक वणना के लिए सवाधिक उपयुक्त है। एक ओर मध्या अधीरा की यह उक्ति है—

बलय पीठि, तरिवन भुजन, उर कुच कुकुम-छाप।
तित जाहु मनभावते, जित बिकाने आप॥

दूसरी ओर अग-दीप्ति का निमल वणन है—

बसन हरयो पिय सुरत म तिय तन जोति समीप,
केलि-भौन मे राति हू भए द्यौस के दीप।

यहाँ मानव शरीर को उत्सव भाव म अकित किया गया ह, जहाँ जीवन

कत चौक सोमत की बठी गाठि जुराय।
पेखि परासिनि कौं प्रिया घूँघट मे मुसकाय॥

२१६ नातयौवना के अक्न म वपा के बाद काई का हटाकर जल की निमल काति का यत्न मारना इस बिंब का उन्लेख ऊपर हुआ है। प्राकृतिक जीवन का ताजगी का ऐसा ही रूप एक अय बिंब म भी मिलता है—

पिय आया नवबालन्तन बाढयो हरय विलास।
प्रथम बारि बूँदन उठ, ज्यों बसुमती-सुबास॥

पुष्प और नारा के लिए वपा का बादल और पृथ्वी के आदिम बिंब का यहाँ एक नद कुशलता क साथ प्रयाग हुआ है पथ्वी की सौंधी गघ जस समूचे बिंब म परिव्याप्त हो गई हा।

२१७ मतिराम म व्रजभाषा पर आधारित रीतिकाल की परिनिष्ठित काव्यभाषा का रूप मिलता है। व्रज के विशिष्ट प्रयाग और मगिमाएँ प्राय पूववर्ती कविया जसी है। अव्यय जस छोटे शब्दा का प्रयाग भी वैसी ही साव-धानी के साथ हुआ है। मतिराम के एक अय प्रसिद्ध सवय की पक्ति— ज्या-ज्या निहारिए नर ह्वै ननिन त्या त्या खरी निकरैसी निकाद म निकर-सी' का प्रयाग किया का भी तरागाता है और सौंदय की परिकल्पना को अधिक सूक्ष्म बनाता है। ज्ञातयौवना क एक विशिष्ट अनुभव का रखाक्ति करत हुए कवि न नायिका के मुह स कहलवाया है— आली कहा कहों एक भई मतिराम' नइ यह बात तहाइ। तहा म प्रत्यय इ प्रत्यय जोड कर कवि न उस बात' को भला भाति स्मरणाय बनान का यत्न किया है। इसी प्रकार मतिराम के अपभ्रया कुख्यात सवया की अतिम पक्ति म प परसग की सार्थकता द्रष्टव्य है— कान्ह क वो म कान न दोना सो गह की न्हरी प धरि आई। यहाँ समूचे भाषिक गठन म यह अपन आप स्पष्ट हो जाता है कि कान्ह' सचमुच कृष्ण नहा हैं वह किसी भी नागरिक' के लिए रूढ प्रयोग है। व्रज क्षेत्र का प्रत्यक युवक, अथवा युवक-मात्र कृष्ण हो गया है।

२१८ व्रज का एक ठेठ प्रयाग मतिराम म कई जगह वडे प्रभावशाली रूप म मिलता है— मरू करि' (बडी कठिनाइ म)— यहाँ रगि माजि मरू करि आई' (५८) 'मुक्ता मुखचद मरू करि नाहीं (३२५)।

२१९ अब मतिराम की आधार भाषा का व्याकरणिक विश्लेषण रसराज' क आधार पर किया जा रहा है। उदाहरणा के साथ दिए हुए अक कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा सपादित मतिराम-ग्रथावली' की छद-सख्या क अनुसार है। सपादक न अपनी भूमिका म रसराज' का मतिराम का सर्वोत्कृष्ट ग्रथ कहा है (२३०)।

प्रस्तुत अध्ययन उमाशंकर शुक्ल द्वारा संपादित 'कवित्त रत्नाकर' के संस्करण पर आधारित है।

२३४ सेनापति ने श्लेष तथा यमक का सजग और घोषित रूप में प्रयोग किया है। इसे वे अपनी काव्य रचना की विशिष्टता मानते हैं। इस संबंध में गर्वोक्ति करते हुए उन्होंने कहा है—

> रोचक सियापति कौं, सेनापति कवि सोई
> जाकी द्वै अरथ कविताई निरवाह की। (१।६)

इस द्वै अरथ कविताई की घोषणा वे अन्य छंदों में अन्यत्र भी करते चलते हैं—

> सेनापति वचन की रचना बिचारी जामै
> दाता अरु सूम दोऊ कीने इक्सार हैं। (१।४०)
> सेनापति बन मरजाद कविताई की जु
> हरि रबि अरुन तमीं को बरनत है। (१।४७)

(यहाँ तो दो नहीं तीन अर्थों का नियोजन किया गया है।)

> देखौ चतुराई सेनापति कविताई की जु
> ग्रीषम विषम बरषा की सम करयी है। (३।१८)

२३५ इन उद्धरणों से रीतिकालीन कवि की बदली हुई रचना-दृष्टि और काव्य रचना के प्रसंग में उसकी प्राथमिकताओं का कुछ पता चलता है। कवि द्वारा श्लेष और यमक के प्रयोग पर बल उसकी काव्यभाषा के रूप को एक खास ढंग से बनाता है। श्लेष के विषय में कुछ विवेचन बिंब प्रक्रिया का विश्लेषण करते समय हुआ है। सेनापति के अध्ययन से यह बात और स्पष्ट होती है कि श्लेष का प्रयोग सामान्य काव्यभाषा से एकरस न होकर उसमें ऊपर से जड़ा हुआ चमत्कार दिखाई देता है। अतः इस बात की संभावना अधिक है कि श्लेष कविता में अभिव्यक्ति के प्रवाह को भंग करे बजाय इसके कि उसे सघन करे। कविता के लंबे इतिहास में श्लेष के सूक्ष्म प्रयोग भी मिलते हैं पर उनकी संख्या इतनी विरल है कि श्लेष का संबंध चमत्कार से अधिक जुड़ गया है भाषा की सर्जनात्मक क्षमता से उतना नहीं। इसका एक रोचक प्रमाण यह है कि स्वयं सेनापति के ऋतु वर्णन के प्रसिद्ध छंद वे हैं जिनमें श्लेष का प्रयोग नहीं। ग्रीष्म वर्णन से संबद्ध प्रख्यात छंद है—

> वृष कौं तरनि तेज सहसौ किरन करि,
> ज्वालन के जाल बिकराल बरसत है।

२२६ क्रिया

सहायक क्रिया—है ७०, हौ ७२ ह—१०६ हुते १७८ हुती ३६६

२२७ मूल क्रिया—ध्याव-१ लग ६, मलक ६ विकात ६ निकरै-६ क्हौं १६, छुवायो १६, परस-५६ पोजे ६० कीजिए-७२ हिरानौ ७२, निक्स ८०, वन्या ८६ परवति १०३ ऐहैं १६४ जहा २०० सुन्यो २१२, चल्गो २१० चलत २१५ उठ २१८ दखिहौ-२७३ कहाया २९८ हलै ३३७ गही ३६९, निसरत ४०७ निरख्या ४१९ रीमिहै ४२७।

२२८ सयुक्त काल—गई हुना १६ कहत हैं २१ गई है २२, हँसत है-१०२ आऊँ हूँ (निश्चयाथक) १०६ उठी ह ११८ जानति हौ १५७ उफनाति है १९९ जायौ है २१०, जाति ह-२६७ करी है २९४, आचरति है ३२२ बठे हुते ३२८ हरति है ३५४ घरत हैं ४०७ गडे हैं ४०७

२२९ सयुक्त क्रिया—मुसक्यान लाग १५ जानि परत ह २१ दै जाइयौ २८, धरि आई २८ सुनि आद ६४ भाजि आई-६८ ल्पटाय रही है ८९ आढाय लीनो १९७, छिपि जाति है १९९ वगारि राख्यो २१४ उडि जायगा २३६ फासि लियो २६१ फहरान लगी ३९६ लगो ४०१

२३० नामधातु—सतराय ५३ अधिकाना ९२ जँगाछति १०५

२३१ कृदत—भूतकालिक—पाग-२२ पठाइ २८ मिटया ८५
पूवकालिक—लगाइ २० निकसि ८६ बिछाय १७३
क्रियाथक सना—कह्यो ७२ रूसना १२३, चल्नि २०३, वचन २६७

२३२ अव्यय

बिनु ६ नहा ६ जिन ८९ नाहिं १७३ हीं १७४ ढिग २६१
वत २६८, तनक २९५ न ३३७ तौ ३७३ नीठि ३७६ नाईं ३९०

सेनापति

२३३ सनापति की काव्यभाषा रीतिकालीन प्रवत्तिया का अच्छे ढग से विवत करता है। रीतिकालीन कवि एक खास ढग स छद की लय और गति की साज-सँभाल पर ज़ोर दत ह। इसलिए यह ठीक ही है कि इस प्रक्रिया म व अनुप्राम यमक और श्लेष जस अलकारा को अधिक सहायता ले। पर बहुत बार नाद-सौन्दय को ही मूल्य मान कर इन कविया ने रचना की और ऐसी स्थिति म बहुत बार कविता ध्वनिया का खिलवाड होकर रह गई। और फिर कम समथ कविया म ता यह खिलवाड ही प्रधान हो गई। सेनापति की काव्यभाषा का

इसलिए यह कहना सवाल नहीं कि सेनापति के पद्य-प्रयोग के साथ गया प्रसिद्ध छ" (३३ ११ १४ १३ ३१ ६०) इनका समर्थक के आधार नहीं है।

२३७ भक्तिकालीन कविता की काव्यभाषा के प्रसंग में भी यह संकेत किया गया है कि शास्त्र-चर्चा के प्रसंग में जहाँ अलंकार-योजना का अधिक अवसर रहता है कवियों ने तत्सम शब्दों का प्रयोग विशेष रुचि के साथ किया है। सेनापति में विशेषतः श्लेष-प्रसंगों में यह प्रवृत्ति स्पष्ट है पर इन प्रसंगों में भी अन्य कवियों की तुलना में उन्होंने तत्सम शब्दावली का प्रयोग अपेक्षाकृत कम किया है। इस प्रसंग में डा० उमाशंकर शुक्ल ने लिखा है 'हिंदी साहित्य के कई कवियों ने अनेक अवसरों पर संस्कृत का सहारा लिया है। रीतिकाल के ग्रंथों में यह बात अधिक पाई जाती है। संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों के सहारे किए हुए क्लिष्ट कविता में अस्पष्टता की मात्रा बढ़ जाती है और वे सुखग्राह्य नहीं हो पाते हैं। संस्कृत के पंडित होते हुए भी सेनापति ने संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग बहुत कम किया है।' (पृ० २८) वस्तुतः भक्तिकालीन काव्यभाषा में संस्कृत की तत्सम शब्दावली की जो बहुलता मिलती है वह रीतिकालीन काव्यभाषा में कम हो गई। रीतिकाल की ब्रजभाषा का वातावरण रीतिकाल के बाद उत्तरोत्तर निखर कर तद्भवता का होता जाता है। भाषा के इस तद्भव रूप में ही एक बड़ी सीमा तक रीतिकालीन काव्य की संहिर प्रकृति भी जुड़ी हुई है। भक्ति और आराधना के उदात्त वातावरण की निर्मिति करने में संस्कृत शब्दावली सहायक होती थी पर रीतिकालीन कवियों ने शृंगार के जो सूक्ष्म और आत्मीय चित्र अंकित किए हैं वे तद्भव शब्दावली में ही विकसित हो सकते थे। सूर-तुलसी की ब्रजभाषा में तथा मतिराम घनानंद की ब्रजभाषा में यह प्रकृतिगत अंतर है।

२३८ जहाँ तक सेनापति के श्लेष प्रयोगों का संबंध है उनके अभंगपद श्लेष संस्कृत तत्सम शब्दों के परंपरा से प्रचलित विविध अर्थों पर आश्रित हैं। पर सभंगपद श्लेष में केवल संज्ञा शब्दों का महत्त्व नहीं रह जाता। वहाँ बहुत बार एक अर्थ के लिए संज्ञा रूप चुनना पड़ता है और दूसरे अर्थ के लिए कोई अन्य व्याकरण रूप— सुरनदी ज — सुरस दीजे सब जनम न भाए — सब जन मन भाए जरै है (संज्ञा)— जरै है (क्रिया)। इस प्रकार सभंगपद श्लेष के लिए तद्भवों का उपयोग अनिवार्य है। और सेनापति की प्रसिद्धि या भी सभंगपद श्लेष के लिए अधिक है— इस ढंग के सभंगपद श्लेष सेनापति की अपनी चीज़ है और हिंदी साहित्य में बेजोड़ हैं। (पृ० ४०)

२३९ इस दृष्टि से भक्तिकालीन काव्यभाषा की तुलना में रीतिकालीन

तचत धरनि, जग जरत झरनि, सीरी
छाह कों पकरि पथी-पछी बिरमत है।

इस छद म (३।११) लघु और दीघ ध्वनिया का क्रम एक खास ढग से ग्रीष्म के वातावरण को बनाने म सहायक होता है। लघु स्वरा म दुपहरी का सन्नाटा है और दीघ ध्वनिया म उसकी विस्तारता है। ये दोना स्थितिया एक साथ भाषा की लय से जुडी हुई ह। इसकी तुलना म ग्रीष्म-वर्षा के श्लिष्ट वणन (३।१८) म भाषा की कोइ लय नही केवल कौतुकपूण वणन ह। छद की आर भिक पक्ति ह—

देख छिति अबर जल है चारि ओर छोर

यहा 'जल' है के दो अथ हुए— जल ही जल ह और जलता है। पहले प्रयोग म जल शब्द सना ह दूसर म क्रिया। और इस दृष्टि से दोनो प्रयोगो की लय अलग-अलग हो गई अग-पद-यमक की तरह। दाता और सूम के एक साथ वणन म (१।४०) सभग श्लेष का उदाहरण देख—

नाहीं नाहीं कर थोरो मागे सब दन कहैं

यहा श्लेष का मूलाधार पक्ति का पहला अश है— नाही नाही कर। दोना अथ लेने क लिए स्पष्ट ही इस अश को अलग-अलग आघात क साथ पढना होगा। और तब लय का प्रवाह एकरूप होन का प्रश्न ही नही उठता। इस प्रकार श्लिष्ट प्रसगा म काव्यभाषा क महत्त्वपूण तत्त्व लय का निवाह समुचित रूप म नही हो पाता।

२३६ जहा तक अथ का सबध है श्लेष का अथ अधिकतर अभिधेयाथ होगा। कवित्त रत्नाकर के सपादनकर्त्ता उमाशकर शुक्ल की टिप्पणी इस सदभ म द्रष्टव्य है— कवित्त रत्नाकर की भाषा म अभिधेयाथ ही प्रधान है। श्लिष्ट कविता के दो अथ होत है किन्तु व दोनो अथ वाच्याथ ही रहते ह अतएव वहाँ भी अभिधा ही मानी जायगी। (पृ० ५३) वस्तुत मध्यकालीन श्लेष अथवा यमक की अथ शक्ति के सदभ म सबस बडी सीमा यही है कि वहा श्लेष क दोनो (या कभी-कभी उससे अधिक) अथ एक दूसरे से टकराकर उन्ह गहरा और सश्लिष्ट नहा बनाते बल्कि एक ही छद म एक दूसर स अलग और असबद्ध रह कर कवि की 'चतुराई' या कौशल को प्रदर्शित करते ह। दाता और सूम, या ग्रीष्म और वर्षा अथवा विष्णु लाल सूय तथा रात्रि साथ-साथ वर्णित कर देना भाषा के सामान्य धरातल पर कवि-कौशल हो सकता है पर यह वणन भाषिक समरसता और प्रवाह तथा अनुभूति क स्तर स बहुत ओछा पडता है। यहाँ भाषा अनुभूति का रूप नही खिलवाड का माध्यम भर है।

तरु (३।१) मित्त (३।३) बागद (३।३), तरनि (३।११), लुव (३।१२), सीरक (३।१२) छिति (३।१८) औधि (३।२८), ह्ररफ (४।३५), व्योत (८।८६) सगर (८।६०) रचना (५।१), र्लहरि (५।३८), समृद्धि (५।४६), प्रताप (५।५०)

२४३ सर्वनाम

म (१।१३) हा (२।८५) मा (२।६०) मरे (२।२०), हम (१।१८), हमारी (२।२०)

तु (२।२०) त (।२८) तुम (।२९) ता (२।२०) तर (२।२०)

तिहार (२।२०) तिहारी (२।२९) आप (५।७२) आपना (८।०९), अपनी (८।६९)

व (१। ०) वा (२।८) त (३।८५)

जो (१।२२) जा (१।१) जिन (२।१) जिन (५।८६) ज (२।४५)

सा (१।७८) ता (१।११)

या (४।) यह (५।२९)

कौन (२।८५) को (२।२०) कोइ (४।६९)

का (२।२०)

२४४ विशेषण बली रूप खरी (२।१) गाढी (४।५५) आधौ (५।६०)।

२४५ बलहीन रूप परम (१।१) अगत (१।१), एक (१।१), अनेक (१।१) अति (१।१२) बनी (१।१२) सीतल (१।१२) प्यारी (१।१३), बाके (१।१८) आछे (३।३) रँगीन (३।३) प्रवीन (३।३) बिषम(३।११), सारी (३।११) सेत (३।४०) निवल (३।८५)

२४६ परसग

तमी कों वरनत है (१।७४) का सा कहो (२।२०) कौन त सकुच उर जानी है (२।४५) जाके दास कों तरसत (१।११)

लाह सों लसति (१।१३) उर अतर के दीने त (१।३०) जाहि मिले प बिमल होति (१।७४)

बन्दाबन सीमा त न बाहिर निकसिबौ (५।२१)

नाइक अनेक ब्रह्माड का (१।१) पून्यों का उदित चद (१।११) परम जोति आ कों (१।१) जा के दरस कौ (१।११) काम चक्कव क बिभ्रम कवित्त है (२।२)।

जा में कवल सुघाई है (१।११)।

काव्यभाषा में तन्मयता की ओर कवियों की रुझान वही है पर अलंकरण की प्रवृत्ति भी अधिक फली है। सेनापति की भाषा पर टिप्पणी करते हुए प० उमाशंकर शुक्ल ने लिखा है 'कवित्त रत्नाकर की भाषा को भी इसी प्रकार का समझना चाहिए। उसकी भाषा का सौंदर्य भावों की तन्मयता के फलस्वरूप न होकर अलंकारों की तडक भडक के कारण है। (पृ० ५०)। भाषा की सर्जनात्मक शक्ति के सदर्भ में अप्रस्तुत विधान की सफलता की कसौटी यही है कि वह भाषा के प्रवाह में एकरस हो जाए अलंकार के रूप में अलग से चमक नहीं। पर रीतिकाल में अलंकारों का नियोजन बहुत बार अपने में स्वतन्त्र मूल्य हो गया और नादिक प्रवाह की उपेक्षा हुई। इस दृष्टि से विविध और—जैसा सेनापति में बहुत स्थलों पर होता है—विरोधी अर्थों और सदर्भों को जाग्रत करने के कारण, श्लेष अथवा यमक प्रयोग के लिए नादिक प्रवाह में बाधा उत्पन्न करना ही अधिक सभाव्य है। सेनापति की काव्यभाषा में सर्जनात्मक क्षमता इनके कारण नहीं इनके बावजूद है। इसीलिए जैसा पहले कहा गया सेनापति का काव्य उन्हीं छदों में उत्कृष्ट स्तर पर पहुंचता है जिनमें श्लेष-यमक का जाल नहीं बिछाया गया, और जहाँ वर्ण्य विषय शब्दों की लय और उनकी व्यंजना अभेद हो गए हैं भाषा और यथार्थ का अनुभव एक हो गया है। काव्य रचना यहाँ अपने में स्वायत्त है और उसे सप्रेषण के लिए संस्कृत फारसी के अप्रचलित शब्द-अर्थों के ज्ञान पर निर्भर नहीं रहना।

२४० सेनापति की काव्यभाषा का व्याकरणिक विश्लेषण करके कुछ प्रतिनिधि रूप इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते हैं—

२४१ सज्ञा

बली रूप कला (१।११) राजा (१।११) छाया (१।१२) जनवासौ (१।५९) कवला (२।८), चमका (३।११) जडकालौ (ब्रजभाषा का विशिष्ट शब्द प्रयोग ३।५५), पालौ (३।५५) तमासौ (४।१३) सपनौ (४।६९), नौ (४।७२), आसरौ (५।२)

२४२ **बलहीन रूप** जाति (१।१) अत (१।१), गगन (१।१) बद (१।१) बदीजन (१।१) ब्रह्मड (१।१) देस (१।११) कीरति (१।११), उज्यारी (१।११), सुधा (१।११) मारग (१।१२), धुनि (१।१२) घन (१।१२), रस (१।१२) जीवन (१।१२) अधार (१।१२) छाया (१।१२) बिसराम (१।१२) रूप (१।१३) माधुरी (१।१३) बारी (१।१३) कलियान (१।१८) बाग(१।१८) सभा (१।२२), दुति (१।२२) अजन (२।१) ऐन (२।५) अम्बर (२।११), सावन (२।२६) भूपन (२।३५) बरन(३।१),

२५० कृदंत करन (१।१) उनि (१।११) कान्हाग (१।१७), मिलिव (२।१४) मिलाँ (२।६०) जमाइव (३।७२) आवन (३।२८) आवौ (४।६०) उतार (४।३०) टू मिवो (१।७१) टिकिवो (४।२१)।

२५१ अव्यय

तिरार (१।१) अर (१।१) वहिराय (१।१) अतरा (१।७), मग (१।११) नगर (१।११) ~ (१।१७) जहाँ (१।७) ~र (४।६६) उत (४।८०) अजौं (४।१०) मति (।१४) लौं (।३०)

२५२ व्याकरणिक ढाँचा इस प्रकार जो रूप बनता है परिनिष्ठित ब्रजभाषा का है—

> जैसी हनुमान जायो भजन को रंग जिन
> राम के भजन ह्वा लौं जोवो मोप्यौ भरनो। (४।६०)

२५३ तत्समता की दृष्टि से जैसा आरम्भ में संकेत किया गया, सगति-युगीन तत्सम-बहुल ब्रजभाषा के उदाहरण कवित्त रत्नाकर (रत्नाकर १६४९ ई०) में नाद और तत्सम शब्दावली प्रधान ब्रजभाषा का योग्य द्रष्टव्य है। कुछ गद्य वार्ता और पूर्वी प्रयोग भी हैं जिनका 'कवित्त रत्नाकर' की भूमिका में उल्लेख किया गया है (पृ० ५१)। इस प्रकार ब्रजभाषा के आधार पर मध्यकालीन काव्यभाषा का सर्वमान्य रूप पूरे तौर पर बन गया है जो प्रायः बाद भी वर्षों बाद तक समूचे हिंदी क्षेत्र की साहित्यिक अभिव्यक्ति संभव करता रहा है।

घनआनंद

२५४ रीतिकालीन कवियों में घनआनंद अपने भाषा प्रयोग के लिए विशेष रूप से प्रशंसित हुए हैं। रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में घनआनंद की भाषा पर विस्तृत टिप्पणी करते हुए लिखा है— इनकी सी विशुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी ब्रजभाषा लिखने में और कोई कवि समर्थ नहीं हुआ। विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य भी अपूर्व है। विप्रलम्भ शृंगार ही अधिकतर इन्होंने लिया है। ये वियोग शृंगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। प्रेम की पीर ही लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखनेवाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़ कर ऐसी वशवर्तिनी हो गई थी कि ये उसे अपनी अनूठी भावभंगी के साथ-साथ जिस रूप में चाहते थे उस रूप में मोड़ सकते थे। इनके

परसग के समान प्रयोग गूजरी झनक माँझ (१।१८) कान लौं विसाल (२।१)।

सश्लिष्ट परसग (विभक्ति) जीति ल्त है निमा कलक (१।११) सपै सग लीने (१।१२) तोहि तजि (२।२०) बहू घाम बितवत है (३।११), चार्पाह चढाइन कौ (४।१३)।

२४७ क्रिया

सहायक क्रिया है (१।११) है (१।११)।

२४८ **मूल क्रिया** गावत (१।१) धरत (१।१) आवत (१।१), पावत (१।१) चार्पा (१।११) लीन (१।११) तरसत (१।११) राखत (१।११) बरसो (१।११) सुनाव (१।१२) बरसाव (१।१२) हरषाव (१।१२), आयौ (१।१२) दत (१।१२) बसति (१।१३) राख्या (१।२६) दहू (२।२०), आनियै (२।२०) फूल (२।१) दल (३।१८) देखी (।२८) मयौ (।५) गाई (४।६), काप्यौ (४।३६) जायौ (४।६१) माग्यौ (४।९) निवायौ (५।१), बसौ (५।१८) पहिराऊ (५।१७) नज्यि (।२१) निजहागौ (५।२९), हटक (५।४६) बराइहौ (५।७२) चलैगा (५।७२)

असेले वतमानकालिक कृदत का पूरे क्रिया रूप की तरह व्यवहृत करने की प्रवत्ति सेनापति म भी द्रष्टव्य है।

उदाहरणाथ—बद बदीजन गावत (१।१), धरत ध्यान अनवरत (१।१), जाके दरस का तरसत (१।११)

२४८ क **सयुक्त काल** पाइ है (१।११) निवारी है (१।१३) बसति है (१।१८) बनावत हो (२।८५) लहियत है (३।१) धाए है (३।४) खरकत है (३।११), छिपी है (३।१२) राखे है (३।१२) जलै है (३।१८) फूले हैं (३।८०), रही है (३।४५) राखे है (३।५५) कीने है (४।६) तोरयो है (४।१७) जारी है (४।३५) आयो है (४।८०) ठाढे हैं (४।४६) देखियत है (४।६०) लरत है (४।६४) भए है (४।६९) बखानी है (४।७६) चाहत है (५।२१) देत है (५।४६)।

२४९ **सयुक्त क्रिया** रमि रही (१।१), जीति लेत है (१।११), हरि लेत ह (२।५) सुनन लागी (२।५०) फूलि रहे है (३।४) आइ बठे (३।४) छिटकि रही (३।४०), गिरे रहै (३।८५) छाडि द (५।४६) जारि आयौ (५।५०)।

सयुक्त क्रिया के अपेक्षाकृत अधिक और जटिल रूप सेनापति की भाषा मे दखे जा सकते ह।

पत्थर के टुकड़े या ढले की तरह हैं जिन्हें उस जमाने के घटिया कवि काव्य समाओं में फेंका करते थे। ठाकुर ने ऐसी काव्य रचना (?) को ढला फेंकना कह कर बड़ा सटीक व्यंग्य किया है ऐसे शब्द प्रयोग जिनसे अर्थ की प्रतीति नहीं होती सुनने या पढ़ने पर चोट हो लगती है। पहली पंक्ति में कहानो (रहानो नहीं) में निहित तिरस्कार बड़ा गहरा है। यहाँ इस एक शब्द के माध्यम से कवि ने अपने युग के बहुसंख्यक तुक्कड़ों के प्रति घोर व्यंग्य और वितृष्णा के भाव को व्यक्त कर दिया है।

२५६ ऐसे रीतिकालीन परिवेश में घनआनंद को स्वच्छंद भावभूमि का कवि क्यों कहा जाता है यह काव्यभाषा के प्रस्तुत संदर्भ में अच्छी तरह समझा जा सकता है। मीन मृग खंजन कमल नैन के युग में घनआनंद ने भाषा की वास्तविक शक्ति को पहिचान कर उसे उद्घाटित किया और इस तरह भाषा तथा अनुभव में अधिक से अधिक समरूपता निर्मित की। अपने उपनाम से लेकर छंद छंद में फैले बादल और पपीहे के एक बहु प्रचलित अप्रस्तुत विधान को लेकर उन्होंने उसे नये-नये विधों में ढाला। कवि का प्रसिद्ध छंद 'परकाजहि देह को धारे फिरौ' परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ निधि नीर सुधा के समान करौ सबही बिधि सज्जनता सरसौ। घनआनंद जीवनदायक हौ कछू मेरियौ पीर हिये परसौ कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानिहूँ लै बरसौ' इसका अच्छा प्रमाण है। बादल प्रेमी के आँसुओं को लेकर प्रेमास्पद के आँगन में बरसा दे यह परिकल्पना मेघदूत के संपूर्ण विधान में भी कुछ जोड़ देता है। और यह स्थिति किसी भी कवि के लिए स्पृहणीय हो सकती है।

२५७ भाषा की अनंत अर्थशक्ति और संभावना को पहिचान कर घनआनंद ने व्यंग्य और विनम्रता को मिलाते हुए कहा—'लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत।' भाषा से अनुभव कैसे रचा जाता और प्रशस्त होता है इसे कवि ने भलीभाँति समझा था और इसीलिए कहा—'मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत।' दूसरी ओर रीतिकालीन अंधानुकरण की प्रवृत्ति के प्रति ठाकुर ने बाद में चलकर अपनी जिस वितृष्णा को एक पूरे छंद में व्यक्त किया प्रेमी कवि घनआनंद ने उसे दो छोटे शब्दों में कह दिया—लोग और लागि—और लोग तो कवित्त बनाने में लगे हैं मेरा निर्माण मेरे कवित्त ने किया है या कि और कवि भाषा की रचना में प्रयत्नपूर्वक लगे हैं पर मेरे अनुभव को चुपचाप मेरी भाषा ने रचा है। लोग और लागि में जो तिरस्कार भाव व्यंजित होता है वह जितना हल्का है उतना ही घना भी। भाषा की इस गहरे स्तर पर पहिचान करके कवि ने अनुभव को सूक्ष्मतम रूपों में पकड़ा है। वियोग की चरम मनःस्थिति में प्रेमी का कहना है—'मो गति बूझि परै तब ही जब होहु घरीक हू आप ते न्यारे।' यहाँ स्वयं अपने से विलग होने की कल्पना जितनी

हृदय का योग पाकर भाषा को नूतन गतिविधि का अभ्यास हुआ और वह पहले स कही अधिक बल्वता दिखाई पडी। जव आवश्यकता हाती थी तव य उसे वँधी प्रणाली पर स हटा कर अपनी नई शक्ति प्रदान करके नई प्रणाली पर ले जात थ। भाषा की पूव अजित शक्ति स ही काम न चला कर इन्हाने उस अपनी ओर स नई शक्ति प्रदान की है। घनआनद जी उन बिरले कविया म हैं जा भाषा की व्यजकता वढात हैं। (पृ० २९३ २९४)। घनआनद की प्रशस्ति म जा प्रसिद्ध सवया मिलता है, उसम भी कवि क' ब्रज भाषा प्रवीन' हाने का विशेष रूप से उल्लख किया गया है— नेही महा ब्रजभाषा प्रवीन औ सुदरतानि क भेद को जान। सवये के अत म घनआनन्द के सभाव्य पाठक क लिए जिन दो विशेषणा की चर्चा की गई है व हैं—भाषा प्रवीन' और सुछद। इस प्रकार घनआनन्द का काव्य-वशिष्टय उनकी मौलिक स्वच्छद वत्ति तथा सजनात्मक भाषा-प्रयाग म स विकसित हाता है। आर य दाना गुण परस्पर एव दूसरे से सबद्ध ह।

२५५ यह सही है कि आधुनिक काल म सचार के साधन अधिक त्वरित और विकसित हाने पर कविया के प्रतीक और अभिप्राया के रूढ हाने का सभावना अधिक हुइ है। पर उत्तरमध्यकालीन ब्रजभाषा काव्य क विस्तत रचनाक्षत्र और लब काल म कविया का अप्रस्तुत विधान और शला भी कुछ कम ही रूढ हा चली थी जस कि आज छायावादी काव्य के क्षितिज पर ना आमू और नया कविता क खपरल नाली की चचा हाती है। रीतिकाल म भाषा के जडीभूत हाने का उल्लख ठाकुर न बडा खीज और पीडा क साथ किया है—

सीखि लीनो मीन मृग खजन कमल नन
सीखि लीनो जस औ प्रताप का कहानो है।
सीखि लीनो कल्पवृक्ष कामधनु चितामनि,
सीखि लीनो मेरु औ कुबेर गिरि आनो है।
ठाकुर कहत याकी बडी है कठिन बात
याको नहीं भूलि कहूँ बाधियत बानो है।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कबित्त कीबो खेल करि जानो है।

रीतिकाल की वँधी-वधाइ लीक पर जाडा गई उपमाए या प्रशस्तिया कालान्तर म कस अर्थविरहित हो गइ थी इसका अच्छा सकेत इस छद म मिलता है। आधुनिक समीक्षा की शब्दावली म ऐसे जडीभूत शब्द प्रयागा का अपारदर्शी कहा जाएगा जिनम स कुछ देखा या अनुभव नही किया जा सकता, जो सिर्फ

२६० जैसा पहले सकेत किया गया, बादल और चातक तथा उनके निष्ठुर-कोमल स्नेह-सबध की प्रक्रिया का बिब घनआनद के समूचे कृतित्व म परिव्याप्त है। वियोग म उपलब्ध आनद का यह बिब जिसे आधुनिक कवि प्रसाद ने 'आँसू' मे विविध मन स्थितिया के बीच से विकसित किया है, कवि के उपनाम घनआनद' म आ कर जसे केन्द्रीभूत और घनीभूत हो गया है। तुलसी ने भक्ति के सदभ म, विशेषत दोहावली मे चातक और घन के रूपक को प्रस्तुत किया है। पर उनका प्रयोग काव्यभाषा क धरातल पर उतना नही जितना कि व्यावहारिक दृष्टात के रूप मे है। घनआनद प्रेम और विरह की अनेक मन स्थितिया म बार-बार नये सिरे स इस बिंब को रचते है इसीलिए पुनरावृत्ति या एकरसता का खतरा नही रह जाता। बल्कि मुक्तक रूप म लिखे गए अलग-अलग छद इस एक बिंब म आकर परस्पर जुड जाते हैं, और फलत इस बिंब म भी एक विराटता का आयाम विकसित हो जाता है। प्रमी की कामना कि बादल उसी के आँसू लेकर उसके प्रिय के आँगन म बरसा दे कवि की इस परिकल्पना का उल्लेख पहले किया गया है। एक अन्य छद म ता कवि ने बडी कुशलता से सुजान का घनआनन्द और अपन का चातक बना कर प्रेमी युगल की अद्वतता प्रदर्शित की है—

> चाहै प्रान चातक सुजान घनआनँद कों
> दया कहू काहू कों पर न काम कूर सों।

ऐसी ही स्थिति के लिए आचाय रामचद्र शुक्ल न कहा ह 'जिस प्रकार ज्ञान की चरम सीमा ज्ञाता और ज्ञय की एकता है उसी प्रकार प्रम भाव की चरम सीमा आश्रय और आलबन की एकता ह। घनआनन्द शुक्ल जी के प्रिय कविया म है इसका कुछ कारण यहा समझ म आ जाता है।

२६१ आश्रय और आलबन की एकता की भावभूमि पर आकर कवि वाचालता स मौन की ओर उन्मुख हो यह स्वाभाविक है। घनआनन्द न मौन की महिमा का पहिचाना है और यह जानना रोचक लग सकता ह कि जिस तरह उन्होन मौन क भाव का एक क्षणिक रूप म नहा वरन दार्शनिक निष्पत्ति क रूप म ग्रहण किया है कुछ उसी प्रकार स आधुनिक कवि अज्ञेय की परवर्ती रचनाओ म मौन की अभिव्यजना क रूप म ग्रहण किया गया ह। उनकी कृति आँगन क पार द्वार की पहली कविता की मुख्य वस्तु यही है बडबोलेपन क समक्ष मौन की सार्थकता। और यह वस्तु विकसित होत होत सकलन की अतिम लबी कविता असाध्य वीणा म निष्पन्न होती ह। यहाँ मौन एक ओर दार्शनिक अनुभव है और दूसरी ओर काव्यभाषा की दृष्टि म मितकथन ह। रीतिकालीन काव्य का सामान्य भगिमा ऊहा और अतिशयोक्ति की मानी जाती है। उसक

सूक्ष्म है उतनी ही मार्मिक भी। योग की भाव भूमि को कवि ने मानो कविता के स्तर पर समव कर दिया है।

२५८ आधार भाषा के स्तर पर भी घनआनद की भाषा परपरागत साहित्यिक ब्रजभाषा स अलग कुछ स्वच्छन्द रूप लिए हुए है। ब्रज क एकदम ठेठ प्रयाग उनकी भाषा म अपेक्षया अधिक है उदाहरणार्थ—घरा (एकदम) बनाय (बिल्कुल) आटपाय (उपद्रव)। ऐस प्रयोग सामान्य पाठक और सुधी व्याख्याकार दोना ही के लिए कभी-कभी अर्थ-बाध की समस्या उत्पन्न कर दते है। दूसरी ओर कवि क विशिष्ट प्रयाग है जिनस भाषा म नयी क्षमता विकसित होती है। अन उपसग लगा कर अनमीच अनपहचान अनमाह जसी नय ढग का शब्द रचना घनआनद म बहुत जगह मिलती है। इस पक्ति म 'अनमीच' का प्रयाग बडा कलात्मक और सार्थक बन पडा है—है घनआनँद साच महा मरिवो अनमीच बिना जिय जीवौ। मन का इस 'दुहली' दशा का बारीक विरोधाभाम 'अनमीच' क बिना उभर नही सकता था।

२५९ बिवा का विधान कवि ने जगह-जगह किया है पर अधिकतर साग रूपक को आधार बना कर। सासारिक प्रवृत्तिया म डूब हुए मन का कवि न बताया है—

> लरिकाई प्रदोष म खेल खग्यो हँसि रोय सु औसर खोय दयौ।
> बहुरी करि पान बियँ मदिरा तरुनाई तमी मधि सोय गयौ।
> तजि क रसमे घनआनँद को जग-धुध सौं चातिक नेम लयौ।
> जड जीव न जागत रे अजहूँ किनि केसनि ओर तें भोर भयौ॥

केशा की ओर स भोर होन क उल्लेख न समूचे बिब का अधिक प्रभावशाली बना दिया है या कहना चाहिए कि बिब की क्षमता इस अतिम पक्ति म ही आकर विकसित होती है। पर कहा-कही रूपक का साग तत्त्व इतना प्रबल है कि बिब का गुण उभर नही पाता। सुजानहित का अतिम छद है—

> नह सौं भोय सँजोय धरी हिय-दीप दसा जु भरी अति आरति।
> रूप उज्यारे अजू ब्रजमोहन सौंहनि आवनि ओर निहारति।
> रावरी आरति बावरी लौं घनआनँद भूलि बियोग निवारति।
> भावना-थार हुलास के हाथनि यों हित मूरति हेरि उतारति॥

यहा आरती का सारा रूपक बिब म सन्निमित नहा हा पाता प्रधानत इसलिए कि प्रस्तुत-अप्रस्तुत क ब्यौरो की समता कवि न इतनी दूर तक उकेरी है कि पाठक की अपनी कल्पना शक्ति का क्रियाशील होन का अवसर नही रह जाता और फलत अर्थ की विकसनशील प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है।

२६६ विशेषण बलीरूप—बडो १३ बावरो २५ खरो ३९ नयो ६१, बिचारो ६१ झर ६८ सूनो ९९ काचो १२४ पाकौ १२४ नवेला १२६ हरवौ १२८ चोखो १८६ रसीलो १८८ ओछो १९३ पूरो २०१ पाढो २२३, सूघो २६७ आछा नीको ३०६ दूनो ४६० निगोडो ५०६।

२६७ विशेषण बलहीन रूप हीन ४ कायर ४ दीन ६२ कठोर ८७ नेकु १०८ सुन्दर १२८ सांच १३३ खिलार १३७ अनूपम १४१, मधुर १४९ मृदु १५३ अन्यारे १७३ अमित २१६ विकल २२६ तीछन २२८ नीरस ३०५ सरस ३१२ सूछम ३१४ लाल ३१७ निपरक ३३५ उचित ३३५, गुपत ३३७ कूर ४१४ उत्तम ४४५।

विशेषणो म बली रूप अधिकतर तद्भव है और बलहीन रूप प्राय तत्सम या अर्द्ध-तत्सम है। सज्ञा शब्दो क बारे म भी कुछ यही स्थिति परिलक्षित की जा सकती है।

२६८ परसग

नीर सनेही को लाय (४) दीठि का और कहूँ नहि ठौर (७) कहा तुम सो कहनो है (५)।

मरोर त (३०) उदेग झर सो जर (५०)।

जव तें इन ननिन (१)

नागनि को लहनो (५) सौतिन क हिय (१९) प्रीति की वेरी जग म उपहास-कहानी (६) मन सिघासन प विराज (१०१)

सश्लिष्ट परसग (विभक्ति)—ननिन १ प्रान ४, चन्हि १९ साचन ३६ दस ९० सुधाहि १०९ करौटनि ३८६।

परसगों के समान प्रयुक्त शब्द—त्यौं ९ बीच १०४ मधि १८१ ओर २९५।

२६९ क्रिया

सहायक क्रिया—हैं १ है ५ हो ७ हुतो ४१ आहि (पूर्वी)-१२३ आहि १८७ हुत ३०२।

२७० मूल क्रिया—पढी १ नयो १ कहा ८ आयो ११ पुटिहै १५ तरसायहो २८ लागत ८१ तारति ८८ हँसारो ७१, कहो ७५ छायो ७७ मा चगा ८९ मानो ११२ हटि १६३ जान २०७, चलगी २२१ बनावत २२८ न्यौ २२९ छको २३७ रागी २५१ मितइ २६४, लहु २६७ काढति २६९ खाढिहै २८९ ठहर ३०८ जिय ३०५ जियग ३०५ भटिहा ३०७ राजिहो ३२८ तरफो ३८६ पायहो ८३९ लियो ४४१, जियो ६६८, नासति ८८९ मुर्झ ८८८ चल्यो ८८५।

बीच घनआनद का मितकथन जितना प्रातिकर है उतना ही विस्मयजनक भी। उनके गाव्य म मौन ही की क्या' (१०६) और मौन म पुकार' (३९८) गहरे स्तर पर अतव्याप्त है। व्याकरणिक स्तर पर अन-उपसग के नय ढग क जस प्रयाग—और सजनात्मक स्तर पर मौन की चर्चा घनआनद की काव्यभाषा को रीतिकालीन परिवश स आगे की स्थिति म ले जाते हैं। न उनम रीति काल का 'मीन मृग खजन कमल नन है और न जस और प्रताप का कहाना है' और शायद इसीलिए उनका कृतित्व रीतिकाल की श्रेष्ठतम उपलब्धियो म से है।

२६२ घनआनद की आधार भाषा का सक्षिप्त व्याकरणिक अध्ययन सुजानहित के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है। छद-सख्या विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र द्वारा सपादित घनआनद के अनुसार है।

२६३ सज्ञा

बली रूप—अचमौ १, नाता १५ हियो १८ सँदेसो ५६, सपनो ७२ मरानौ ७३ काँटो ९९ साकौ-१२८ परखा १२९ चेरो १३३ करेजो १५७, चसका १८१ झगरो २२३ आसरा २४३ बसरो २४४ उराहनौ २५७ ब्यौरा २९९ अयूना ४६०।

२६४ **बलहीन रूप**—दाठि १ आखि २, जल ४ मीन-४ दग ७ गल-१० अचिरज ११ काज ६२ लोयन ६३ निकेत ८१ सुख ८२ पयोद ८२ सिगार ८५, ध्यान १०१ मरम १०८ हित १०८ काल १०८, राप १०९ पीर १२६, ओटपाय १४३, डेल १९४ सरीर-२०४ पौन-२२६, मेघ-२२६ बान २२८, सनेह-२६७, गुलाल ३१७ अनुराग ३१७ द्रोह ३२९, परजन्य-३३९ ठौर ३४०, सुरति-३४५, अगन ४२३ गहमह ४७० मटभेर ४९५, सोप-५०२।

२६५ सवनाम—

म ४४५, मो ४, हौ ११, हम ४५ हमारी २७।
तुम ५ तू १३२ तै ७३ ता ६३, तेरी ८३ तिहारो-७१ रावर ७, आपु ८८
व २०७ ता ८२, त ३४५, तिन १०१ उन्हैं २७
यह ६५ इन १ या २४ य ४२
जो २०१ जा-३०, जिन १०९
सो ९
कौन ५३, को २४८
का १०

२७१ संयुक्त काल—रहे है ३ बीरत हो ६ आवति है ९ आए हौ २३, जीवत है ३६ मर हैं ५८ दुरति है ९ साचत हौं-७२ पूरति हैं ७', उठी है ८७, बुझे हैं-९१ जानत हौ ९६ गही ह १०१ मिलावत हो १०९ लग्यौ है १३८ रगा है-२८२ चाहत है २६५ परे हौ २६७ बसति है २६८ फारि ए २६९ जारत है-२७२ जगत है ३००, नचे हैं-३०१ परयौ हो ४०५ रुवावत हौ (अवधी-बैसवाडी) -२६९ स्वावा हौ (अवधी-बैसवाडी) ३६९ सहौं हौं ४११।

२७२ संयुक्त क्रिया—मारि दई २ हरि रत हैं १८ बाधि ग्यौ-२२ दबि जाहिं-७८ बठि रहैं ८४ लीनिय मानि ६२ छाय रहे ७८ फलि गई है-९७ फिरि जायौ है ११६ जरि गयौ १९३ जाय पर-२०७ तरस्यौ करें २१६ ढरि चल्यौ २२२ समाय रह्यौ है २३६ जानि द २५९ ढरि गो-२७२ निहारिबौ करौ २८९ लै बरसौ ३३९ होति रही ह ३६५ देखि लीज ४०७ पठि रहे हौ ४६३।

२७३ नामधातु—अमासत ३०३ सिरायहौ-३९२ अनुकूल्है ४२६

२७४ कृदंत—भूतकालिक कृदंत—छकी २ पगी ८ लाग २९ सज्यौ-४८ छूटे ३८२।

पूर्वकालिक कृदंत—लखि २ कहि-५८

क्रियार्थक संज्ञा—वहना १ कहिव १०५ बहरायव-२८९ रूठना ४०३

२७५ अव्यय

जव १ हा १ नहा १ तित २ अब २ बिन ३ जिन ७ तौ १२ ई २९ जनि ७१ नियों ७५ घौं-७८ कित ९६ ढिग १०४ जू ३२ वनाय (बिल्कुल)-४०६ अचकाँ ४५४।

२७६ बलार्थक प्रत्यया का मूल शब्द से संश्लिष्ट करके अर्थ का वहाँ केंद्रीकृत करने की रीतिकालीन भाषिक प्रक्रिया घनआनंद में भी मिलती है—कछू मग्यौ पीर ३३९ (नौ) माधुरियै साँभरी—३७५ (ही) चित चोरई लति—३७५ (हा)

देव

२७७ हिंदी आलोचना में बिहारी और देव (या देव और बिहारी?) का मूल्यांकन बहुत कुछ तुलनात्मक रूप में होता रहा है। काव्यभाषा के स्तर पर इस अनवरत तुलना का औचित्य काफ़ी सीमा तक समझा जा सकता है। दोनों कवियों की काव्यभाषा का आधार ओ रूप प्रधान परिनिष्ठित ब्रजभाषा

यहाँ पहिले छन्द मे गोपी को श्याम वर्ण इतना आकर्षक लगता है कि उसने अपने सारे शृगार को ही श्याममय बना लिया है अतत श्याम रंग का विस्तार उसके नेत्रो के काजल म सकेन्द्रित हो गया है। कवि ने इस बात का सकेत भी दे दिया है कि शृगार का वर्ण स्वय श्याम है। दूसरे छन्द म कृष्ण के अगाध श्याम सौदर्य सिंधु म प्रेमी भक्त की विभोरता का वर्णन है जहाँ अक्षरा की स्याही सारी सृष्टि म परिव्याप्त हो गई है। या एक अनुभव प्रक्रिया के दो पक्ष—शृगार और भक्ति—का वैशिष्ट्य इन छन्दो म अलग अलग चित्रो म अंकित हुआ है। यही दोनो की बिंब प्रक्रिया का अतर सामने आता है। पहले छन्द म शृगार की आधिपत्य भावना व्यजित हुई है श्याम रंग को अपने म समो लेने म। दूसरे छन्द म भक्ति की तन्मयता और आत्मसमर्पण है श्याम सिंधु म अपने को खो देना है। आधिपत्य और आत्मसमर्पण—शृगार और भक्ति की य दोनो मन स्थितियाँ कवि के इन बड़ सधे हाथो से रचे चित्रो म म विकसित हुई हैं।

२८२ देव की आधार भाषा का सक्षिप्त व्याकरणिक विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है।

२८३ सज्ञा

बली रूप ओरो (रवि २।८) टीको (भवि ३।२८) उज्यारो (भवि ५।२८) पत्यारो (भवि ५।२८) पारतो (भवि ६।१५) हिया (भवि ६।२६), माइको (भवि ६।२१), नगारो (भवि ८।२०) चेरा (भवि ८।२१) अँध यारो (भवि ८।४३) टोटो (कुवि २।३२), नाला (कुवि २।३४) करेजो (कुवि ३।८)

२८४ बलहीन रूप पायनि (रवि १।१) नूपुर (रवि १।१) कटि (रवि १।१) किंकिनि (रवि १।१) मधुराई (रवि १।१) दा (रवि १।१) जाति (रवि १।१६) विरहानल (रवि १।८९) आरसी (सुमिवि ६।४६), *पियूख* (सुमिवि ६।४६) चवाव (सुमिवि ७।८) बसी (भवि १।२६) भुज (भवि २।४३) अधरारस (भवि २।४३) तार (भवि २।८२), बिरद (भवि ८।२०) वारिधि (भवि ८।२०) सील (कुवि २।३५) हय (कुवि २।२५) पौन (कुवि ३।४)

२८५ सर्वनाम

हौ (रवि ४।२१) मैं (रवि ५।२५) मो (सुवि १।३२) मेरो (रवि ४।२३) अपनो (रवि ५।२५) हमारी (रवि ५।२४) तू (भावि १।३३) तो (भावि २।४२) त (रवि ७।२१) तुमैं (रवि ४३) तेरो (रवि ४।२५), आपु (रवि ४।२५) रावर (रवि १।८३)

की ध्वन्यात्मक तरंगों में मूर्द्धन्य ध्वनियों की कठोरता विलीन हो जाती है। समाव्य विरह के संदर्भ में नायिका के आँसुओं का वर्णन है—

ठाढ़ी बड़े खन की बरसै बड़री अँखियानि बड़े बड़े आँसुनि (सुवि ४।३५)

यहाँ सवैये की इस अंतिम पंक्ति में मूर्द्धन्य ध्वनियों (ठ ड ढ) की छ बार आवृत्ति हुई है। पर इन कठोर मूर्द्धन्य ध्वनियों का अनुशासन कवि ने अपने विशिष्ट ढंग से किया है। ठाढ़ी और बड़े के साथ खन' रख कर (ठाढ़ी बड़े खन) कवि ने ह्रस्व और अनुनासिक ध्वनियों की सहायता से छन्द के ध्वन्यात्मक वातावरण को कोमल बनाया है। इसी तरह से बड़ी विशेषण में री प्रत्यय जोड़ कर और फिर आगे विशेष्य आँख को अखियानि' बनाकर (बड़री अखियानि) कवि नेत्रों की करुणा और विवशता का सहज भाव में व्यंजित कर देता है। और इस प्रकार आँसुओं के वर्णन के बीच मूर्द्धन्य ध्वनियाँ जैसे पिघल जाती हैं। बिहारी में ब्रज जीवन के नटखटपन और लंगरई' का चित्रण अधिक है जो उनके शब्द-चयन और व्याकरणिक चुस्ती के माध्यम से संभव होता है। देव की ध्वनि संबंधी संवेदनशीलता के कारण उनके अच्छे छंदों में कोमलता और तन्मयता का सूक्ष्म वातावरण अंतर्व्याप्त है ऊपर उद्धृत दोनों छंद (सुवि-१।३२ तथा सुवि ४।३५) जिसके बढ़िया उदाहरण हैं। यों भाषा के अलग-अलग पक्षों को लेकर इन रीतिकालीन कवियों की विशिष्ट सतर्कता उनकी जीवन रुचियों में प्रतिफलित होती दिखती है। काव्यभाषा के रूप में क्रमशः विकसित होता हुआ ब्रजभाषा का लचीलापन और परिष्कार इन दोनों कवियों में अपने उत्कृष्टतम रूप में देखा जा सकता है।

२८१ देव की काव्यभाषा में बिंबों का कुशल और संवेदनशील रूप समूचे रीतिकालीन काव्य में उनकी अलग पहिचान करा देता है। भक्ति और रीतिकालीन कवियों में कृष्ण के श्याम वर्ण का दुर्निवार आकर्षण प्राय एक अभिप्राय की तरह चलता है। देव ने इस आकर्षण भाव को दो अलग-अलग बिंबों में अलग-अलग मनःस्थितियों के अनुकूल रचा है। दोनों ही कवि के प्रसिद्ध छंद हैं, यहाँ उनके उत्तरार्द्ध उद्धृत हैं—

> लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यौ
> सावरे लाल को सावरो रूप मैं नैननि मे कजरा करि राख्यौ।
> आखिन मे तिमिर अमावस की रैनि जिमि
> जम्बु रस बुंद जमुना जल तरंग मे।
> यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यौ माई,
> स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग मे।

२९० मूलक्रिया बर्नें (रवि १।१) गई (रवि १।१) रच्यो (रवि १।१६) पलान्हो (रवि १।२४) गह (रवि १।४२) न्यौं (रवि १।४३), दोजिय (रवि १।४९) समाया (रवि ४।२३) मरिहा (रवि ७।४०) उड़ी गिहे (रवि ८।८९) हर्गा (मावि १।२८) प्ललात (मावि १।३१), हग्यो (मावि १।३३) अरयाऊ (सुमिवि १।४६) मरों (सुमिवि ७।८), दविहोगा (मवि ७।१८) तूजिय (मवि ८।१४) सारा (मवि ८।२०)

२९१ संयुक्त काल गुयो है (रवि ६।२५) मूरिगा (रवि ७।४४), लाग हैं (रवि ७।६३) गद हुता (रवि ८।६०) जा हा (मावि १।२८), दगति हौं (मावि १।२८) मुनियति है (मवि ३।२०) परत हैं (मवि ८।४४) रूमनी हो (मवि ८।५७) समाति है (कुवि १।७)

२९२ सयुक्त क्रिया ज्ञ वैठी हैं (रवि १।४९) मारत डाल (रवि-१।५७) बूडि गय (रवि ४।२३) बिलाना जात (रवि ६।८) पारि गई (मावि १।८) मुकि जाती (मावि १।२२) पुकारि उठे (मावि २।१८) वरनत फिर (सुवि १।२६) जानन लागी (मवि ३।३७) चलाइ गयो (मवि-४।४) बही चली जाति है (मवि ५।१०) बढ़ि जाइगा (मवि ८।२२) वालि उठे (मवि ८।३५) पुच्यानो परे (कुवि ३।२०) तुलि रह हैं (कुवि ४।३३)

देव की भाषा तक आत-आत सयुक्त क्रिया क रूप सामान्य भाव स प्रयुक्त हाते दिखाई पडत हैं। सबस बडा रूप चार तत्त्वा स निर्मित हुआ है—वही चली जाति है (मवि ५।१०)।

२९३ नाम धातु रिसानी (रवि ६।८) सतराति (रवि ७।१६) अगौछति (कुवि ३।२८)

२९४ कृदत

वतमानकालिक—मोजत (रवि ८।६०), अहात (मवि ८।३५) कपत (मवि ८।३७)

भूतकालिक—त्रिख (रवि ४।२३)

पूवकालिक—ल (रवि १।४२) बांधि (भवि १।२६)

क्रियाथक सज्ञा—चितवे (रवि १।४३) वह्यौ (रवि ४।२५) *आवन* (रवि ६।२५) जानिबो (रवि ७।६६)

२९५ अव्यय

हू (रवि १।२४) तौ (रवि १।४२) औचक (रवि ४।२३) ही न (रवि-४।२३) सो (समान, रवि ४।३०), जित (भावि १।१३) तित (मावि-

वह (रवि १।४२), वा (रवि १।८२), वै (रवि ५।२६) ता (रवि-४।२३), ते (रवि -१।२८), उन (भावि १।१३), उन्हें (रवि १।५६)

यह (रवि ५।२५), ये (रवि १।४९), जा (रवि ५।२५)

सा (रवि १।१६)

कौन (रवि ४।२३), को (रवि-५।२४) काई (रवि ७।७३) का (रवि-१।४३) किन (भवि ८।७)

कहा (सुमिवि ७।८)

२८६ विशेषण

बली रूप बडौ (रवि १।४२) सिगरौ (रवि १।५७) नयौ (रवि ५।२६) गारो (रवि ६।८), सावरो (रवि ७।५५) नीकौ (मवि ३।३८) न्यारो (मवि ५।२८), अनूठो (मवि ५।३९) उजगे (मवि ८।२१)

२८७ **बलहीन रूप** मजु (रवि १।१) चचल (रवि १।१), विसद (रवि १।१६), निमल (सुमिवि ६।४६) भीना (मवि ३।२०) सलोनी (मवि ३।२३) चीक्ने (मवि ३।३२) रचक (भवि ८।६)

सौंदय-वणन क प्रसग म विशेषणा का प्रयोग कवि ने पूरी सावधानी क साथ किया है, और ध्वन्यात्मक अनुकूलता का ध्यान रक्खा है।

२८८ **परसग** मोहन को मुख हेरति (भावि १।२८) मिसु क दधिदान को (रवि १।८२), छतिया सो लगाई (भावि-२।८)

छल सों (भावि २।८) लाज त लाल कपोलनि म (भावि २।८)

बानी दिना त (रवि १।४२)

रस ल अधरान को (रवि १।८२) धुनि की मधुराई (रवि १।१) लालन के जातन (रवि १।२४)

मदन जितान म (रवि १।१६), किन प न कछू लखि (मवि ४।७)

सश्लिष्ट परसग (विभक्ति)

रगमहल निहारि (रवि ६।२५), गाठिहि छडाद (भावि १।८)

पायनि नूपुर मजु बजै (रवि १।१), हिये हुलस वनमाल (रवि १।१)

परसग की तरह प्रयुक्त शब्द

द्वार देहरी लौं (रवि ६।२५)

अब लगि (भावि २।६८)

२८९ क्रिया

सहायक क्रिया है (रवि १।१६) हुती (रवि ५।२४) हाँ (रवि ७।७३), अहै (सुवि ३।२६), हो (सुमिवि ८६)

और कबीर रमते साधु-संत होने पर भी मूलत भोजपुरी क्षेत्र के कहे जाते हैं
पर दोनों की रचना ब्रजभाषा या ब्रजभाषा-खड़ीबोली के समन्वित रूप में है
जो उस समय काव्यभाषा के रूप में स्वीकृत हो चुकी थी। उससे कुछ पूर्व खड़ी-
बोली में काव्य रचना हो रही थी दक्कन के सूफी कवि अमीर खुसरो और स्वय
कबीर का काव्य जिसका प्रमाण है। आधुनिक काल मे भारतेंदु से काव्यभाषा
का आधार फिर बदलता है और ब्रजभाषा के स्थान पर फिर खड़ीबोली प्रतिष्ठित
होती है। भारतेंदु ने स्वय मध्यममार्ग अपनाया था कविता उन्होंने परंपरित
ब्रजभाषा में लिखी और गद्य की नयी चेतना खड़ीबोली में अभिव्यक्त हुई।
भाषा और संवेदना दोनों ही दृष्टियों से भारतेंदु में उस युग की संक्रांति अवस्था
को अच्छी तरह देखा जा सकता है। भारतेंदु का काव्य मध्यकाल की ओर
देखता है और उनका गद्य आधुनिक चेतना को रूपायित करता है।

२९९ फिर भारतेंदु के बाद तो खड़ीबोली ही हिंदी-क्षेत्र की व्यापक काव्यभाषा
बनी। और इसमें रचना करने वाले हिंदी प्रदेश के विविध जनपदों और बोली
क्षेत्रों से संबद्ध रहे हैं। भोजपुरी (प्रसाद प्रेमचंद रामचंद्र शुक्ल—यानी
आधुनिक काल के सबसे बड़े कवि-नाटककार उपन्यासकार और आलोचक)
अवधी (निराला भगवतीचरण वर्मा) बुंदेली (मैथिलीशरण गुप्त रामकुमार
वर्मा) राजस्थानी (चंद्रधर शर्मा गुलेरी) पहाड़ी (सुमित्रानंदन पंत इलाचंद्र
जोशी) इन सभी आधार बोलियों का वैविध्य आधुनिक हिंदी काव्य भाषा में
रचा गया है। भाषाविज्ञान में जिन्हें बिहारी पूर्वी हिंदी पश्चिमी हिंदी राजस्थानी
और पहाड़ी कहा गया है इन बोली रूपों और जातीय क्षेत्रों की सर्जनात्मक
निष्पत्ति ही हिंदी भाषा और साहित्य है। आज परिनिष्ठित हिंदी का आधार
खड़ीबोली है बड़े लेखकों में जिस क्षेत्र के अधिक प्रतिनिधि जनमे हैं। और इस
विडंबना का दूसरा पक्ष यह है कि इस वर्ग में पूरब के भाषिकों का प्रतिनिधित्व
सबसे अधिक है जिनके साथ जबान खराब हो जाएगी इस डर से मीर साहब तो
शायद बात करना भी पसंद नहीं करते। अभी भोजपुरी क्षेत्र की उपयुक्त सूची
में हजारीप्रसाद द्विवेदी दिनकर और कई नाम जोड़ने भी होंगे। इस प्रकार
हिंदी मध्यदेशीय और कहें सच तो भारतवर्ष की संश्लिष्ट भाषा संस्कृति की
वास्तविक प्रतिनिधि है। यह रोचक तथ्य है कि समकालीन साहित्य का नेतृत्व
जिन दो कवियों ने किया है यानी अज्ञेय और मुक्तिबोध तकनीकी ढंग से उनकी
मातृभाषा क्रमश पंजाबी और मराठी कही जाएगी।

३०० तो आरंभिक काल में खड़ीबोली मध्यकाल में ब्रजभाषा और
अब आधुनिक काल में फिर खड़ीबोली—हिंदी काव्यभाषा के आधार इस तरह

१।१३), नकु (माविं १।२८) तनक (सुवि १।३२) जिनि (सुमिवि ७।८) नगाच (मवि ६।४५)

भिखारीदास

२९६ हिंदी काव्यभाषा के प्रसग म भिखारीदास का महत्त्व रचना प्रक्रिया की दृष्टि म उतना नही है जितना इसलिए कि उन्हाने समकालीन काव्यभाषा के आधार रूप व्रजभाषा के प्रयाग पर सजग रूप स टिप्पणी की है। या भी रीतिकाल म भिखारीदास रचनाकार की अपेक्षा आचाय ही अधिक मान जाते हैं। उनके समय तक आते-आते काव्यभाषा क रूप म व्रज बहुत सुस्थिर और रूढ हो चुकी थी। इसलिए उसके प्रयाग की सीमा को परिलक्षित करते हुए 'काव्यनिणय' के आरभ म ही उन्हाने कहा—

> सूर केसौ मडन बिहारी कालिदास ब्रह्म
> चितामनि मतिराम भूषन सुजानिये।
> लीलाधर सेनापति निपट नेवाज निधि
> नीलकठ मिश्र सुखदेव देव मानिये।
> आलम रहीम रसखानि सुदरादिक
> अनेकन सुमति भए कहाँ लौं बखानिये।
> ब्रजभाषा हेत बजवास ही न अनुमानो
> ऐसे ऐसे कबिन की बानी हूँ सों जानिये॥

२९७ यहाँ आचाय ने प्राय ३०० वर्षों का व्रजभाषा काव्य-परपरा को समझते हुए—काव्यनिणय का रचनाकाल १७४६ ई० है—इस महत्त्वपूण तथ्य की ओर सकेत किया है कि किसी व्यापक काव्यभाषा म रचना करन वाला कवि, आवश्यक रहा कि स्वय उसी के क्षेत्र का निवासी हा। काव्य की परपरा विकसित हान पर इतनी पुष्ट हो जाती है कि मौखिक रूप के अतिरिक्त उस साहित्यिक रूप म भी सीखा और ग्रहण किया जा सकता है। भिखारीदास अवध के रहन वाले थ और उनकी यह उक्ति बहुत कुछ अपने काव्य प्रयत्ना का औचित्य सिद्ध करने के लिए भी हो सकती है पर इस तरह तो हर कवि द्वारा लिखी हुई आलाचना अतत आत्म रक्षा का ही साधन हाती है।

२९८ भिखारीदास के उपयुक्त 'भाषा-लक्षण' से मध्यदेश अथवा हिंदी प्रदेश की काव्यभाषा के स्वरूप पर अच्छा प्रकाश पडता है। इस समूचे क्षेत्र म चदबरदाई स लेकर आधुनिक कवि अज्ञेय तक काव्यभाषा की एकता बराबर रही है। हर युग के कविया ने एक स्वीकृत-परिनिष्ठित काव्यभाषा का अपनाया है भले ही वे उसके आधार-क्षेत्र के निवासी हा या न हा। चद राजस्थान के थे

फारसी हैं मिश्र)। किसी भाषा के लक्षण की इस समय यह महत्ता की बात कितनी जरूरी है इसे सभी रचनाकार समझते हैं। भारत के आधुनिक संविधान (प्रसिद्ध अनुच्छेद ३५१) में राजभाषा हिन्दी का स्वरूप क्या हो इसकी जितनी चिंता के साथ व्याख्या की गई है वैसी ही चिंता भिखारीदास द्वारा दिए गए उत्तर मध्यकालीन काव्यभाषा के इस लक्षण में देखी जा सकती है। चार प्राचीन क्लासिकी भाषाओं (संस्कृत अपभ्रंश फारसी) और तीन जनपदीय बोलियों (ब्रज अवधी खड़ीबोली) के यथावश्यक रूप में सम्मिश्रण को उन्होंने काव्यभाषा का रूप निर्धारित किया है।

३०३ यह लक्षण देने के बाद भिखारीदास ने पहले उद्धृत कवित्त (सूर केसौ मंडन) में ब्रजभाषा के सफल प्रयोगकर्ताओं का उल्लेख करते हुए बताया है कि ब्रजभाषा में रचना करने के लिए ब्रजप्रदेश में ही रहना आवश्यक नहीं है। और फिर अंत में एक दोहे में उन्होंने अपनी समझ में उन दो कवियों का उल्लेख किया है जिनमें कई प्रकार की भाषा मिलती है—

तुलसी गंग दोऊ भए, सुकबिन के सरदार।
इनकी काव्यनि में मिली, भाषा बिबिध प्रकार॥

यहाँ उदाहरण उन कवियों का है जिनके अलग-अलग काव्यों (काव्यनि) में कई प्रकार की आधार भाषाएँ मिलती हैं। पर कई आधार भाषाओं का प्रयोग एक बात है और एक सम्लिष्ट काव्यभाषा जिसमें कई बोलियों और भाषाओं के तत्व मिश्रित हों का प्रयोग दूसरी बात है। रचना प्रक्रिया के संदर्भ में दूसरी स्थिति अधिक महत्वपूर्ण है जिसकी ओर अपने भाषा-लक्षण में स्वयं भिखारीदास ने संकेत किया है। तुलसी में दोनों तरह की स्थितियाँ मिलती हैं जब कि गंग का उल्लेख सिर्फ पहली स्थिति यानी कई आधार भाषाओं के प्रयोग के कारण हुआ है।

३०४ हिंदी काव्यभाषा की इस अनवरत विकास प्रक्रिया में हम पाते हैं कि कबीर ने जनभाषा के प्रवाह और शक्ति की ओर संकेत किया था और उसका रचनात्मक उपयोग किया था। तीन शताब्दियों के बाद भिखारीदास तक आते आते प्रवाह में उतनी गति नहीं रहती। अब भाषा को एक स्थिर माध्यम के रूप में देख कर उसकी जाँच पड़ताल हो रही है। निरक्षर कवि से लेकर अधीत आचार्य तक की यह भाषा-यात्रा है।

३०५ यह स्वाभाविक है कि भिखारीदास में कवि रचना कम और वर्गीकृत अलंकारों का प्रदर्शन अधिक हो। उनका अधिकांश काव्य परंपरित उपमानों का अभ्यास है। शास्त्र रचना होने के कारण यह इस प्रकार के काव्य की

रूपान्तरित होते रहे हैं। और कसौटी रही है, जिसे भिखारीदास ने प्रस्तावित किया है कि काव्यभाषा के पूर्णत विकसित होने का प्रमाण यह है कि उसकी आधार-वाली के क्षेत्र से बाहर के लेखक भी उसमें रचना करने लगें। इस कसौटी पर मध्यकाल में अवधी को व्यापक काव्यभाषा नहीं कहा जा सकता, यद्यपि गुण और परिमाण दोनों दृष्टियों से हिंदी के दो उत्कृष्ट काव्य 'पद्मावत' और 'रामचरितमानस' इसी में रचे गए हैं।

३०१ भिखारीदास ने इसी प्रसंग में ब्रजभाषा को काव्यभाषा के रूप में प्रयुक्त करने के लिए कई लक्षणों की ओर भी संकेत किया है। उनका मुख्य बल, जिससे सहमत हुआ जा सकता है इस बात पर है कि काव्यभाषा का रूप व्यापक और संश्लिष्ट हो यद्यपि इसके लिए जो दो उदाहरण उन्होंने तुलसी और गंग के दिए हैं उनकी स्थितियों और महत्त्व के वैषम्य को देखते हुए उनके एक साथ जुड़ने पर आश्चर्य प्रकट किए बिना नहीं रहा जा सकता। भिखारीदास के पक्ष में दबी जबान यह कहा जा सकता है कि उन्होंने ऊपर उद्धृत कवित्त में उन कवियों का उल्लेख किया है जिन्होंने ब्रजभाषा में ही रचना की है फिर बाद के दोहे में तुलसी और गंग का उल्लेख अलग से इसलिए किया है कि इनकी काव्यनि में मिली भाषा विविध प्रकार'। तुलसी का अधिकार अवधी और ब्रजभाषा पर था तथा गंग के बारे में प्रसिद्ध है कि उन्होंने ब्रजभाषा में काव्यरचना करने के साथ साथ खड़ीबोली में भी एक गद्य-पुस्तक लिखी थी।

३०२ पर भिखारीदास के लक्षण और उदाहरण में फिर भी वैषम्य रहता है। काव्यभाषा के स्वरूप की व्याख्या करते समय उन्होंने भाषा की संश्लिष्टता को केन्द्र में रखा है पर उदाहरण में उन्होंने तुलसी और गंग द्वारा कई आधार-बोलियों (अवधी और ब्रज अथवा ब्रज और खड़ीबोली) के अलग-अलग प्रयोग की रचना सामर्थ्य का द्योतक माना है। भाषा-लक्षण संबंधी दोहे इस प्रकार हैं—

> भाषा बृजभाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोइ।
> मिलै संसकृत पारस्यौ, पै अति प्रगट जु होइ॥
> बृज मागधी मिलै अमर नाग जमन भाषानि।
> सहज पारसीहूँ मिलै, षटबिधि कबित बखानि॥

इस तरह भिखारीदास काव्यभाषा के आधार रूप में ब्रजभाषा को रखते हैं और उसमें मागधी या अवधी, और यवना अर्थात खड़ीबोली का मिश्रण स्वीकार करते हैं। प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में वे संस्कृत और अपभ्रंश का मिश्रण उचित मानते हैं। इसके अतिरिक्त फारसी के मिश्रण को भी उन्होंने स्वीकृति दी है पर साथ ही सावधान कर दिया है कि यह सहज हो (सहज

एक अर्तनिहित सीमा कही जा सकती है। पर रचना की कसौटी अतत रचना है उसम किसी प्रकार की छूट मुमकिन नहीं होती। भिखारीदास की अलकार-योजना का एक प्रतिनिधि उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जा सकता है—

अलक प अलिवृ द भाल प अरध चद,
भ्रू प धनु नयननि प वारौं कज-दल म ।
नासा कीर मुकुर कपोल बिंब अधरनि,
वारयो वारौं दसननि ठोढी जवफल म ।
कबु कठ भुजनि मृनाल दास कुच कोक,
त्रिबली तरग वारौं भौंर नाभियल म ।
अचल नितबन प जघनि कदलि-खभ,
बाल-पग-तल वारौं लाल मखमल म ॥

ऐसे छन्द म लगता है कि काव्यभाषा विलुप्त हो गइ है सिफ अलकार ही अलकार दिखत है। कवि की इस प्रवृत्ति स खीझ कर ही आनन ह अरविंद न फूल्यो" वाल छद को लकर आचाय शुक्ल न व्यग किया है एस सकट म पडी हुई नायिका शायद ही कहीं दिखाई पडे। (त्रिवणी प० १२७) और तब समझ म आता है कि सकट अकेले नायिका का ही नहीं काव्यभाषा का भी है।

३०६ आधार भाषा की दृष्टि स भिखारीदास म पूर्वी प्रयोग कुछ अधिक मुखर जान पडत हैं। इसे यो भी कहा जा सकता है कि बोलचाल की ठेठ ब्रज के रूप कम हैं। ब्रज के सश्लिष्ट परसग या विभक्तियाँ भी कम प्रयुक्त हुई हैं। दूसरी ओर लागि या माहा जस पूर्वी परसग-शब्द प्रयुक्त मिलत हैं। इस सबध म काव्य निणय' के सपादक विश्वनाथप्रसाद मिश्र न सपादन-शली के अतगत लिखा है— भिखारीदास जी न ब्रजी के इस साहित्यिक रूप के ज्ञान के लिए ब्रजवास को आवश्यक नहीं माना। वे अवध म घर बठे ही रूप गढते रह। फल यह हुआ कि हियरा' के हियरो' हीरा ऐसे रूप भी उन्होंन घर दिए हैं, जब कि हियरा' आकारात ही होना है ओकारात नहीं। (प० २१)

३०७ विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सपादित काव्य निणय' के आधार पर भिखारीदास की आधार भाषा का सक्षिप्त विश्लेपण इस प्रकार किया जा सकता है—उदाहरणो म दिए हुए अक क्रमश उल्लास तथा छन्द सख्या क सूचक हैं—

३०८ सज्ञा

सज्ञा बली रूप—उलयो ३।६ बहानो ३।८ पनारो ३।४८ हियो ४।२७ अगारो ६।२१ झगरो ८।७१ अधमा ८।° हीरा ९।२९ चितरा ११।४ घाघरा-११।८, नातो १२।३८ सपनो १५।१५ बफारा १८।१५ ल्ला २०।१७

६

मध्यकालीन काव्यभाषा का सामान्य रूप

हिंदी की मध्यकालीन काव्यभाषा की शक्ति और वैविध्य प्राय अतुलनीय है। वैविध्य उसके अर्थ-वैभव का एक प्रधान स्रोत है। कबीर और दकनी के कवियों से लेकर भिखारीदास तक (१४५० १७५० ई०) हिंदी काव्यभाषा में न जाने कितनी भंगिमाएँ तथा अर्थ क्षमताएं विकसित होती हैं। व्याकरणिक प्रयोग, शब्द-समूह अप्रस्तुत तथा छंद योजना और बिंब विधान में यह भाषिक प्रवाह एकरस चलता है फिर भी तीन सौ वर्षों की इस अवधि में काव्यभाषा के आधार कई बार बदले हैं—खडीबोली खडीबोली-ब्रज अवधी, ब्रजभाषा। इन बदलते आधारों ने काव्यभाषा के रूप को कहीं विच्छिन्न नहीं किया वरन उसे हर बार शक्ति का एक नया स्रोत प्रदान किया। इसी मान में हिंदी काव्यभाषा का प्रवाह अतुलनीय कहा गया है। इतनी आधार भाषाओं ने मिल कर एक काव्यभाषा का निर्माण कहीं नहीं किया।

अठारह बोलियों वाले हिंदी-क्षेत्र (प्राचीन शब्दावली में जिसे मध्यदेश' कहा गया) में कोई एक बोली परिनिष्ठित काव्यभाषा के रूप में व्यवहृत होती रही है। ऐसी स्थिति में हिंदी काव्यभाषा की परंपरा हिंदी क्षेत्र की बोलियों के शब्दसमूह और विशिष्ट प्रयोगों से ही समृद्ध नहीं हुई, वरन उन जनपदीय क्षेत्रों की सांस्कृतिक विरासत भी हिंदी में संक्रमित होती गई। हिंदी के बहु जनपदीय रूप ने उसकी प्रकृति को व्यापक और संश्लिष्ट बनाया है। हिंदी इस दृष्टि से विशाल मध्यदेशीय मानस की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का नाम है। और मध्यकालीन काव्यभाषा इस सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का श्रेष्ठतम और प्रतिनिधि अंश है।

खडीबोली अथवा अवधी की तुलना में ब्रजभाषा पर आधारित मध्यकालीन काव्यभाषा सबसे अधिक विकसित हुई। मध्यदेश में प्रयुक्त होने के साथ-साथ इसका सांस्कृतिक प्रभाव बंगाल असम तथा उडीसा के पूर्वी क्षेत्रों में पहुँचा जहां मध्यकालीन वैष्णव काव्य की एक नयी भाषा शैली विकसित हुई ब्रजबूलि। ब्रजबूलि का आधार रूप पुरानी बंगला अथवा मैथिली था, पर ब्रजभाषा के शब्दों और प्रयोगों का मिलाकर उसमें कुछ ब्रज प्रदेश का वातावरण लाने का सजग प्रयत्न इन मध्यकालीन वैष्णव कवियों ने किया। १५वीं १६वीं शती में रचे गए इन ब्रजबूलि पदों का विस्तृत साहित्य हमें उपलब्ध होता है। ब्रजबूलि का

का द्योतक नही है। कृष्णभक्त कवियो के गोचारण काव्य की स्वच्छद और उन्मुक्त प्रवृत्ति म इस प्रकार के प्रयोग उपयुक्त ह पर तुलसी के रामचरितमानस के शिष्ट और मर्यादित विधान म अनुकरणात्मक शब्दो का विशेष उपयोग नही दिखता। एसी ही स्थिति आगे चलकर रीतिकालीन काव्य की है। अनुकरणात्मक शब्दो का प्रयोग जसा कहा गया काव्य प्रक्रिया का आरभिक साधा चरण ह। काव्यभाषा के विकास मे फिर ध्वन्यात्मक वातावरण के नियोजन और ध्वन्यात्मक अनुकूलन—जिनके लिए उदाहरणार्थ बिहारी और दव अपने अपने ढग स स्मरणीय है—की स्थिति आती है। स्वय तुलसी की काव्यभाषा ध्वन्यात्मक सवदनशीलता की दृष्टि से बहुत विकसित और परिष्कृत है। इस दृष्टि स अनुकरणात्मक शब्दो (जरबराइ अरगाना किल्कना गल्वल, जगमगाना, धमकना थरथराना ग्नझुन आदि) का काव्यभाषा म सीमित उपयोग ही सभव ह मुख्य बात छन्द के पूर ध्वन्यात्मक वातावरण और उसस सबद्ध अर्थ प्रक्रिया का है। देव की पक्ति *ठाढी बडे खन का बरस बदरी अखियानि बडे बड आसुनि* म सीधे अनुकरणात्मक शब्दो का प्रयोग नही है, पर सूक्ष्म स्तर पर ध्वन्यात्मक वातावरण को रचा गया है।

उच्चारण के स्तर पर जो स्थिति अनुकरणात्मक शब्दो की है शब्द प्रयोग का दृष्टि स वही स्थिति मुहाविरे और लोकोक्तियो की है। बहुत बार समीक्षक महाविरे और लोकोक्तियो के प्रयोग को काव्यभाषा की सिद्धि का प्रतिमान मानते हैं। अनुकरणात्मक शब्द की ही तरह मुहाविरे या लोकोक्ति का रूप साधा बधा हुआ है। उसम स्वय कवि के द्वारा भाषा रचे जान की सभावना कम हो जाती है। इसीलिए मुहाविरे की सीमा ह कि वह अर्थ को एक विशेष स्थिति म लाकर नवाचित करता है पर वही उस रोक देता है। अर्थ की सभावनाएँ उससे नही बढती। बोलचाल की भाषा स सीधे उत्प्रेरित और मुहाविरा प्रधान काव्यभाषा होते हुए भी उर्दू म छोटे और हल्के मुहाविरो के प्रयोग का ही महत्त्व मिला ह। वस्तुत वहाँ बडे शायर छोटे छोटे अव्यय या सना शब्दो के आधार पर स्वय मुहाविरे की भगिमा बना लेते है। बडे और पूरे मुहाविरे या लोकोक्तिया काव्य म अर्थ का विकसित नही करते वरन कुछ अटपट ही लगते ह। इस दृष्टि से काव्यभाषा म मुहाविरो का विशेष सन्दर्भो म ही उपयोग ह उदाहरणार्थ सवादो म। तुलसी ने मुहाविरो का चलता उपयोग इमा रूप म विशेष सफलता के साथ किया है। दशरथ कैकयी राम-लक्ष्मण या कैकेयी-मथरा क सवादो म मुहाविरो का उपयोग निखरता है विशेषत तीसरे युग्म म। चलती भाषा म मुहाविरो का उपयोग अपेक्षया कम पढे लिखे और निम्न सामाजिक स्थिति म सबद्ध व्यक्ति,

अधिकतर रूप बल्हीन हैं। बली रूप तदभव हैं और बल्हीन रूप तत्सम अथवा अद्धतत्सम। ये बल्हीन तत्सम अथवा अद्धतत्सम रूप इन कवियो की नामवाची शब्दावली के प्रधान आधार है। कमल मग चद्र मीन मयूर चद्रिका जसी शब्दावली पर ही ये कवि अधिकतर अपना अप्रस्तुत विधान विकसित करते हैं। इसलिए इन कवियो म शब्द समूह के अतिरिक्त अप्रस्तुत विधान म भी समता दिखाई देती है। इस समान अप्रस्तुत विधान की एक सूची इस अध्याय के बाद दी गई है। वस्तुत कुछ एसी ही स्थिति बिंब-गठन की है। बिंब-गठन की प्रकृति सामान्य अप्रस्तुत विधान की तुलना म कही अधिक विशिष्ट है यह दूसरी बात है। इस प्रकार कबीर जायसी सूर तुलसी बिहारी देव आदि म मना अथवा नामवाची शब्दावली बहुत कुछ समान है। व्याकरणिक ढाचे म थोडी विभिन्नता है पर प्रधान सास्कृतिक शब्दावली मना की है जिस स्तर पर हिंदी की मध्यकालीन काव्यभाषा का अपने वविध्य के बावजूद एक पहचाना जाने वाला समग्र और व्यापक रूप उभरता है।

भाषा विशेषत उच्चारण की प्रकृति म उस भाषा के छदो का भी सबध रहता है। सस्कृत भाषा का सयोगात्मक प्रकृति के अनुरूप उसके वर्णवृत्तो का गठन रहा, जिसम एक-एक वर्ण तथा उसकी मात्रा के क्रम तक का हिसाब था। भाखा' या हिंदी की प्रकृति उत्तरोत्तर वियोगात्मक होती गई। और इस बदली प्रकृति के अनुकूल कडे वर्णिक वत्तो के स्थान पर उन्मुक्त मात्रिक छदो का विकास हुआ जहाँ ध्यान लय पर अधिक था। भक्तिकाल के दोहा चौपाई और पद तथा रीतिकाल के कवित्त-सवैया और दोहा काव्यभाषा के इस लयात्मक विकास स जुडे हुए हैं। मात्रिक छदो को पढते समय ह्रस्व और दीर्घ के अतर को कुछ ढीला करना पडता है एक ऐसी स्थिति जो सस्कृत वर्ण-वृत्तो के सदर्भ म व्यावहारिक नही लगती। इन मात्रिक छदो के नियोजन ने भी हिंदी काव्यभाषा के समन्वित विकास म योग दिया है।

मध्यकालीन काव्यभाषा विशेषत कृष्णभक्त कवियो के सदर्भ म एकाधिक बार यह बात परिलक्षित की गई है कि यहाँ भाषा म अनुकरणात्मक शब्दो का प्रयोग विशेष रुचि के साथ हुआ है। सावित्री सिन्हा का यह पर्यवेक्षण महत्त्वपूर्ण है— कृष्ण भक्त कवियो की भाषा की सबसे मूल्यवान सपत्ति है उनके द्वारा प्रयुक्त अनुकरणात्मक शब्द जिनके द्वारा उन्होंने लीला-पुरुष कृष्ण की मनोरम लीलाओ म प्राण भर दिए हैं उन्हे साकार बना दिया है। (ब्रजभाषा के कृष्ण भक्ति-काव्य म अभिव्यजना शिल्प, प० ८८)। यहा ध्यान रखना होगा कि अनुकरणात्मक शब्दो का प्रयोग काव्यभाषा के सदर्भ म बहुत विकसित प्रक्रिया

मध्यकालीन काव्यभाषा के विकास क्रम में यह बात आसानी से परिलक्षित की जा सकती है कि काव्यभाषा के सामान्य रूप में बहुत से उपमान और प्रतीक क्रमशः रूढ़ होते गए हैं। रीतिकाल में ठाकुर जब अपने अनेक समकालीनों के प्रति संकेत करते हुए बड़ी खीज और व्यंग्य के स्वर में कहते हैं—

सीखि लीनो मीन मृग खंजन कमल नैन
सीखि लीनो जस औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीनो कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामनि,
सीखि लीनो मेरु औ कुबेर गिरि आनो है।

तो उनकी कठिनाई समझ में आती है। यह अकारण नहीं था कि भारतेंदु तक आते आते काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा की क्षमता छीज जाती है और नई शक्ति संभावना के रूप में खड़ीबोली का प्रयोग आरंभ होता है। यह हिंदी काव्यभाषा को असाधारण सुविधा रही है कि अपने लंबे क्रम विकास में एक आधार के चुकने पर वह दूसरे आधार को स्वीकार कर लेती है। (या यह भी इतिहास का तथ्य है कि ठाकुर के मीन मृग खंजन कमल नैन की ही तरह परवर्ती छायावाद के प्रतीक और उपमान भी कालांतर में रूढ़ हो जाते हैं और आवृत्त होने लगते हैं।) कबीर और सूर से आरंभ हुई ब्रजभाषा कैसे विकसित और समृद्ध हुई और फिर कैसे उत्तर रीतिकाल में वह जड़ और स्थिर होती गई इसका एक रोचक साक्ष्य इस काल के आचार्य कवि भिखारीदास में मिलता है जिन्होंने काव्यभाषा में कोई नयी क्षमता विकसित नहीं की परंतु अपने काव्य निर्णय के आरंभ में ही काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा प्रयोग की शास्त्रीय व्याख्या की है। संत कबीर के समय की बहते नीर की तरह की भाखा मानो आचार्य भिखारीदास तक आते-आते फिर कूप जल में परिणत हो गई। शायद यही प्रवाह की नियति है।

मध्यकालीन विशेषतः रीतिकालीन काव्यभाषा में बहुत बार अप्रस्तुत विधान भाषा का अंग नहीं बन पाता उसका अस्तित्व अलग ही से बना रहता है। इसके विपरीत बिंब सामान्य काव्यभाषा में पर्यवसित हो जाता है जिसकी व्याख्या पहले अध्याय में बिंब प्रक्रिया खंड के अंतर्गत की गई है। रीतिकालीन काव्य का बहुत सा अंश तो किन्हीं शास्त्रीय लक्षणों के उदाहरण के रूप में लिखा गया है। ऐसी स्थिति में अलंकारों के सजग और प्रयत्नज प्रयोग उसमें स्वभावतः अधिक हो गए हैं। इसके अतिरिक्त भी अलंकार विधान में प्रस्तुत अप्रस्तुत दोनों के संबंध में साथ-साथ कथन होने के कारण कवि का कौशल ऊपर उभर कर अधिक आ जाता है बात और भाषा का अभेद नहीं हो पाता। पर बिंब

क्रियाएं सामान्यतः अधिक करती हैं। गोस्वामीजी के कैकेयी-मंथरा संवाद में मुहाविरे काव्य हो गए हैं—(हमहुँ कहबि अब ठकुरसोहाती, निज हित अनहित पसु पहिचाना, 'भामिनि भयहु दूध कइ माखी') जबकि अन्य बहुत से स्थलों पर वे ऊपर से जड़े दिख सकते हैं। यों सामान्यतः मुहाविरे बोलचाल की भाषा का गद्य का गुण है काव्यभाषा का नहीं।

सूरदास द्वारा प्रयुक्त कुछ मुहाविरों और लोकोक्तियों के उदाहरण यहां व्यावहारिक प्रमाण के लिए दिए जा रहे हैं—एक डार के तोर, महमानी कछु बात बार खसौ मत होत, धूम के हाथी, बरसति आखी मूड चराई, बाहु की द्वनाव चढावत, लोकोक्ति —वहै बात सागत उतराई एक पथ द्वै काज, जहां ब्याह तहँ गीत, धान का गाव पयार से जानत, सूरदास तीनों नहिं उपजत धनिया धान कुम्हाडे दिगबरपुर में रजक कहाँ ब्यासाइ। एक आध अपवाद को छोड कर सूर की ये पंक्तियां उनके सामान्य पदों में आती हैं श्रेष्ठ पदों में नहीं। कवि की कोमल काव्य-कल्पना अप्रस्तुत विधान और बिंब गठन के साथ इन मुहाविरों लोकोक्तियों का मेल प्रायः नहीं खाता। कवि का वैशिष्ट्य अर्थ को विकसनशील बनाने में है मुहाविरे चित्रात्मक रूप में ही सही अर्थ को पूरा का पूरा निकाल लेते हैं उसे स्थिर करके खतम कर देते हैं।

व्याकरणिक स्तर पर भिन्नता रखने वाली हिंदी क्षेत्र की विविध बोलियां एक काव्यभाषा के रूप में संघटित होती रही हैं। कामताप्रसाद गुरु ने हिंदी व्याकरण में लिखा है 'यद्यपि आधुनिक हिंदी का ब्रजभाषा से घनिष्ठ संबंध है, तथापि व्याकरण की दृष्टि से दोनों भाषाओं में बहुत कुछ अंतर है। (पृ० ६९८) जहाँ सांस्कृतिक शब्दावली उस पर विकसित अप्रस्तुत विधान बिंब गठन और छंद-रूप व्याकरणिक दृष्टि से अलग अलग हिंदी क्षेत्र की विविध बोलियों को एक काव्य-भाषा के रूप में विकसित करते हैं वहीं व्याकरणिक दृष्टि से आधुनिक खड़ी-बोली हिंदी के सबसे निकट पडने वाली उर्दू हिंदी के इस बोली-संश्लेष से अलग हो जाती है। जैसा कि प्रबंध के आरंभिक अध्यायों में विवेचित किया जा चुका है मुहाविरे को अर्थ क्षमता का सबसे बड़ा साधन मानने वाली उर्दू हिंदी काव्यभाषा की प्रक्रिया से मेल नहीं खाती। जहां उर्दू में व्यंजना शब्दों के सीधे प्रयोग के बीच मुहाविरे में से व्युत्पन्न होती है वहां हिंदी में वह लाक्षणिक विधान या बिंब प्रक्रिया में से विकसित होती है। उर्दू काव्यभाषा में बिंब का प्रयोग विरल है। हाँ रीतिकालीन हिंदी काव्यभाषा और उर्दू काव्यभाषा में एक गुण समान है और वह है अव्यय या छोटे शब्द शब्दांशों का अधिक से अधिक दक्ष और सार्थक प्रयोग।

प्रयुक्त हुआ है।१६७६ ई० के आस पास लिखे गए अपने ब्रजभाषा के व्याकरण में मिर्ज़ा खाँ का कहना है भाखा विशेषत ब्रज प्रदेश और उसके निकटवर्ती क्षेत्र से सबद्ध है। इसी प्रसग में वे आगे कहते है 'सस्कृत और प्राकृत को छोडकर भाखा में अन्य सभी बोलियाँ समाहित है।' यहाँ यह स्मरणीय है कि मिर्ज़ा खाँ के लिए 'हिन्दी' तथा भाखा पद समानार्थक है। और वे ब्रजभाषा नहीं केवल भाखा कहते हैं। मिर्ज़ा खाँ का 'भाखा सभी भाषाओ में सर्वाधिक क्षमतावान जान पडती है। उनकी दृष्टि में अलकृत काव्य के लिए यह सब में अधिक उपयुक्त भाषा है साथ ही प्रेमी और प्रेमिका की प्रशसा-गायन के लिए भी। यह अधिकतर कवियो और सुसस्कृत व्यक्तियों द्वारा बोली जाती और प्रयुक्त होती है (ए ग्रामर आफ द ब्रजभाखा पृ० ७)। यहाँ अंतिम सदर्भ स्पष्ट ही रीतिकालीन शृगारिक काव्य के लिए जान पड़ता है।

ब्रजभाषा का प्रयोग मध्यकाल में इतने विस्तृत रूप में हुआ इसके कई कारण हैं। एक तो शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश का सर्वाधिक दाय ब्रजभाषा में सुरक्षित रहा। इसीलिए ग्रियर्सन ब्रजभाषा को साहित्यिक हिन्दुस्तानी की तुलना में पश्चिमी हिन्दी का श्रेष्ठतर प्रतिनिधि मानते हैं (भारत का भाषा सर्वेक्षण भाग १ पृ० ६३)। शौरसेनी अपभ्रंश से साथ विकसित होने के कारण ब्रजभाषा में ध्वन्यात्मक लालित्य भी अधिक माना जाता है। यहाँ स्मरणीय है कि मथुरा की केन्द्रीय ब्रजभाषा को छोड़ कर ब्रजभाषा के अन्य सभी बोलचाल के रूप बराबर श्रुति सुखद नहीं कहे जा सकते। बल्कि पूर्वी आगरा तथा कुछ अन्य क्षेत्रों की ब्रजभाषा तो कर्णकटु ही कही जायगी। पर साहित्यिक परंपरा में ब्रजभाषा का माधुर्य बात परंपरागत रूप ही प्रयुक्त होता रहा। फिर उन्नीसवीं शती में ब्रजभाषा के परवर्ति साहित्य और सम्प्रदायों की नयी शक्ति के बाद संघर्ष हुआ और परिणाम स्वरूप सम्प्रदायों के [illegible] में गया। समूचे उत्तर भारत में कृष्ण भक्ति परंपरा से जुड़े रहने के कारण भी ब्रजभाषा का क्षेत्र विस्तृत होता गया। एक सीमा के बाद तो ब्रजभाषा में लिखने का अर्थ हो गया राधा-कृष्ण संबंधी काव्य की रचना करना। [illegible] ध्वन्यात्मक लालित्य में [illegible] गया। यहाँ तक कि उर्दू के कवि भी बराबर [illegible] और [illegible] के लिए ब्रजभाषा [illegible]—[illegible]—[illegible]। ब्रजभाषा और उर्दू काव्यभाषा [illegible]

[illegible]

समग्र रूप में रचे जाने के कारण और अप्रस्तुत पर ही अधिक आधारित होने से अपेक्षया आसानी से काव्यभाषा के प्रवाह में घुल मिल जाता है। रीतिकालीन काव्यभाषा में बिंब प्रयोग कम और अलंकार विधान अधिक है। काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा के छीजने का यह एक मुख्य कारण है क्योंकि अलंकरण का विकास भाषा की सहज स्वाभाविक शक्ति की कीमत पर होता है। जबकि प्रत्येक बिंब अपने में विशिष्ट विधान होने के कारण आवृत्त नहीं होता और इसीलिए उसके प्रयोग से काव्यभाषा समृद्ध होती है क्षरित नहीं।

भाषा के विकास में मिथ' अथवा पुराण-कथा के विशिष्ट योग की चर्चा पाश्चात्य भाषावैज्ञानिक और समीक्षक बार-बार करते हैं। इस प्रसंग में दूसरे अध्याय में अंतर्गत विस्तृत चर्चा और उदाहरणों के साथ बताया गया है कि भारतीय भाषाओं के विकास में पुराण-कथा का योगदान नगण्य है और पश्चिमी देशों से हमारी स्थिति भिन्न है। हमारे यहाँ के समीक्षक अनेक बार भारतीय और हिन्दी काव्य में 'मिथ' की खोज पश्चिमी समीक्षकों की भंगिमा के साथ करते हैं और वहाँ पश्चिमी काव्य की तरह मिथ की स्थिति न पाकर निराश होते हैं और सुन्दर आशा व्यक्त करते हैं कि हमारी 'पिछड़ी' कविता और काव्यभाषा में भी भविष्य में मिथ का अधिकाधिक प्रयोग हो सकेगा। ऐसे समीक्षक स्पष्ट ही न पुराण-कथा की प्रकृति को समझते हैं और न हिन्दी कविता की प्रवृत्ति को। मध्यकालीन काव्य का तो मुख्य आधार पुराण-कथाओं के आख्यान और संदर्भ हैं। पर ये आख्यान और संदर्भ यहाँ कथानक के स्तर पर परिचालित होते हैं मिथ की भाँति काव्यभाषा में पर्यवसित नहीं हो पाते। इसका मुख्य कारण है कि हमारी पुराण-कथाएँ पश्चिम की मिथ की तरह धर्म निरपेक्ष नहीं हैं, वरन वे हमारे धार्मिक जीवन का प्रधान अंग हैं। हनुमान अपने अनेक संदर्भों के सहित हमारी धार्मिक आस्था के विषय हैं और जो धार्मिक विश्वास का आलंबन है वह मिथ' नहीं हो सकता। हनुमान के लिए हम आज भी अपनी भाषा में आदरार्थक बहुवचन सहायक क्रिया है का प्रयोग करते हैं—हनुमान हैं। तब हनुमान शब्द अपने सारे आयामों को छोड़कर सामान्य काव्यभाषा में कैसे घुल मिल सकता है? मध्यकालीन काव्यभाषा का अध्ययन इस दृष्टि से स्पष्ट प्रमाणित करता है कि हिंदी (तथा अन्य भारतीय भाषाओं) में मिथ' या पुराण-कथा अपने पूरे विस्तार के साथ आख्यान और संदर्भ के रूप में रचना की कथा-वस्तु का अंग है पर काव्यभाषा का नहीं।

मध्यकालीन काव्यभाषा में ब्रजभाषा का आधार सबसे अधिक समय तक—प्राय तीन सौ वर्षों की अनवरत परंपरा में—और सब से अधिक क्षमता के साथ

आधार ब्रजभाषा को छोड़ कर फिर खड़ी बोली का वरण किया, यद्यपि उसका पुनर्वार साधारणीकरण संभव हो गया। हिंदी भाषा की बहुजातीय प्रकृति क्रम क्रम गतिशील रही है यह इसका अच्छा प्रमाण है।

काव्यभाषा का आधार बदलने से काव्य रचना परवर्ती काव्य धारा से ही संबद्ध नहीं बना रहता वरन् एक बार फिर जनता के साथ जन-जीवन में जुड़ने का अवसर पाता है। ग्रियर्सन ने हिंदी भाषा की जन प्रकृति को अच्छी तरह समझ कर कहा था हिंदी का अपना शब्द-समूह विशाल है। इसकी जड़ उन ग्रामीण बोलियों की भाषा में है जिस पर यह आधारित है। (भारत का भाषा सर्वेक्षण भाग १ पृ० २०८) और यही कारण है कि शताब्दियों तक केंद्रीय राज्याश्रय की परवाह किए बिना हिंदी की काव्य-परंपरा अपने ढंग से बराबर विकसित होती रही। हिंदी कवि को जब राज्याश्रय दिया भी गया तो उसने अस्वीकार कर दिया। अष्टछाप के कवि कुंभनदास के लिए प्रसिद्ध है कि उन्होंने अकबर बादशाह द्वारा दिए गए सम्मान को छोड़ते हुए कहा—

संतन को कहा सीकरी सो काम?
आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि गया हरि-नाम।

इस पद को यदि आधुनिक समीक्षक की दृष्टि से देखा जाए तो तनाव और अंतर्विरोध की एक रोचक मनःस्थिति यहाँ मिलेगी। पनहियों के टूटने और हरिनाम के बिसरने का एक साथ जिस रूप में उल्लेख हुआ है वह आधुनिक कविता के साहसिक प्रयोगों का स्मरण दिलाता है। पर वस्तुतः कुंभनदास बड़े सहज भाव से इन दोनों मनःस्थितियों को समीकृत कर रहे हैं। फतहपुर सीकरी की यात्रा में गरीब भक्त के लिए दोनों विपत्तियाँ एक साथ आईं—जूता टूटना और हरिनाम का विस्मरण होना। संत कवि अपने सहज विश्वास भाव से दोनों असमान स्थितियों का उल्लेख एक साथ कर रहे हैं। इस दृष्टि से यहाँ भी तन्मयता है तनाव या अंतर्विरोध नहीं। यद्यपि अपने शब्द प्रयोग की दृष्टि से यह पद बराबर कुछ असाधारण-सा लगता रहता है। परवर्ती रीतिकाल को स्मरण करके और अटपटा लगता है। किन्तु यहाँ भी ध्यान रखना होगा कि रीतिकालीन कवियों ने राज्याश्रय अधिकतर देशी नरेशों के यहाँ लिया केंद्रीय विदेशी शक्ति से उनका समझौता नहीं था।

मध्यकालीन काव्यभाषा के वैविध्यपरक और संश्लिष्ट रूप की ओर यहाँ संकेत किया गया है। यह हिंदी क्षेत्र के जातीय और सांस्कृतिक गठन से संबद्ध है जिसके मूल में एकान्विति की प्रधानता नहीं, वरन् बहुजातीय विकास का आधार है। इसलिए विविध व्याकरणिक आधारों को लेकर भी मध्यकालीन

अपेक्षा तदभव की ओर उन्मुख होती गई यह कहना वस्तुत एक सामान्य तथ्य की ओर संकेत करना और एक सामान्य सिद्धान्त का समर्थन करना ही होगा। यों बिना पूरे आकड़ो के इस संबंध म अंतिम रूप से कुछ भी कहना न्याय नहीं है पर इतना अनुमान किया जा सकता है कि सूरदास स लेकर सेनापति देव और भिखारीदास तक काव्यभाषा के गठन में तदभवों का महत्त्व बढ़ा है। इसका कुछ कारण भक्तिकाल की अध्यात्मपरक संस्कृत शब्दावली के स्थान पर रीतिकाल की ऐहिक जीवन म संबद्ध तदभव शब्दावली का आना भी है। ब्रज भाषा अध्यात्म स आरंभ होती है और शरीर के अनुभव म संपन्न होता है। यो दोनो अनुभव स्तर बराबर संश्लिष्ट भी होते रहते है। यही ब्रजभाषा की सामर्थ्य भी है और सीमा भी।

मध्यकालीन काव्यभाषा अपने श्रेष्ठ रूप म मूर्त तन्मयता के अनुभव को विकसित करती है। यह तन्मयता चाहे भक्त भगवान संबंध की हो चाहे प्रेमी प्रेमिका संबंध की। उस युग के अधिकांश समाज के लिए तनाव न भाषा म था और न जिंदगी म। मध्यकालीन काव्यभाषा म जो एकतानता की स्थिति मिलती है उसका एक कारण यह तनाव का न होना है। पर कभी-कभी हम एकतानता की प्रतीति एकरसता की सीमा तक पहुँचा देती है और रीतिकाल म ऐसा अनुभव कभी-कभी होने लगता है। वाक्य भंग असाधारण और साहसिक शब्द प्रयोग परस्पर विरोधी भाषिक वातावरण का निर्माण इस युग की काव्य-भाषा की विशेषताएँ नहीं है और न हो सकती थी। मध्यकालीन काव्यभाषा अपने परिष्कृत शब्द-चयन, शांत लय और मानिक छंदो के प्रयोग से पहिचानी जाती है जहा धीरे धीरे तन्मयता की मनःस्थिति विकसित होती है जो उस युग की ब्रजभाषा का लक्षण बन गई थी। १९वी शती के संघर्ष और तनाव के साथ इस तन्मयता का मेल नहीं खा सकता था। भारतेन्दु ने कुछ समय तक तनाव और तन्मयता का साथ-साथ ले चलने की कोशिश की—तनाव खड़ीबोली के गद्य म, नाटकों और पत्रकारिता म तथा तन्मयता ब्रजभाषा के कवित्त-सवैया और पदो म। पर यह स्थिति स्वभावतः अधिक चल नहीं सकती थी। अततः खड़ी बोली समग्र काव्यभाषा के रूप मे प्रतिष्ठित हो गई और उसके साथ-साथ हिंदी क्षेत्र म नयी शक्ति और चेतना का उदय हुआ। यहाँ एक रोचक तथ्य यह परिलक्षित किया जा सकता है कि उर्दू काव्यभाषा का आधार तो पहले से ही खड़ीबोली चली आ रही थी। पर इसके बावजूद उत्तर मध्यकालीन सामंतीय विलासिता के वातावरण म उर्दू काव्य बहुत समय तक छटपटाता रहा और अब तक उससे पूर्णतः मुक्त नहीं हो सका है। हिंदी काव्यभाषा ने क्योंकि अपना

७

मध्यकालीन हिंदी काव्यभाषा प्रचलित अप्रस्तुत विधान तथा अभिप्राय

(निम्नलिखित रचनाओं के आधार पर यह सूची तैयार की गई है —१ कबीर ग्रन्थावली स० पारसनाथ तिवारी २ पद्मावत स० माताप्रसाद गुप्त, ३ सूरसागर सार स० धीरेन्द्र वर्मा ४ श्री रामचरितमानस (बालकाण्ड-अयोध्याकाण्ड)स० माताप्रसाद गुप्त ५ विनयपत्रिका स० हनुमानप्रसाद पोद्दार, ६ रामचन्द्रिका (पूर्वार्द्ध)स० लाला भगवानदीन ७ दक्खिनी हिंदी काव्यधारा (मुहम्मद कुली) स० राहुल साकृत्यायन ८ कवितरत्नाकर स० उमाशकर शुक्ल ९ बिहारी रत्नाकर स० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' १० भूषण (शिवभूषण), स० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, ११ भिखारीदास (काव्य-निर्णय) स० विश्वनाथप्रसाद मिश्र)

सक्षिप्त रूप —अ०=अयोध्याकाड प=पद बा०=बालकाड, वि० विनयपत्रिका सा=साखी

१ चरन कमल चितु रह्यौ समाई (कबीर प २४)
 कँवल चरन ल सास चढावा (जायसी ११८।५)
 चरन-कमल बदौं हरि राइ (सूरदास १।१)
 चरम कमल रज चाहति (तुलसी-बा० २१०)
 पद पद्म (केशव १२।२४)
 राम-पद पकज (सेनापति १।३)
 अरुन सरोरुह-कर चरन (बिहारी ४८७)
 कोकनद स चरन (भूषण १)
 कर पद कोमल कज से (भिखारीदास ८।१६)

२ मुख चद दिपाहीं (जायसी ३२।६)
 इदु वदन (सूरदास-पा६)
 बिधु वदनी (तुलसी अ०।८।७)
 चद्रहु ते चारु मुख (केशव ७।१४)
 चन्द मुख (मुहम्मद कुल्ली प० ९१)

काव्यभाषा का समूचे हिंदी क्षेत्र म एक समग्र और व्यापक रूप रचा गया है। इन आधारो या कि समग्र रूप को 'ब्रज' 'अवधी खडीबोली आदि क्षेत्रीय नामा स प्राय नहीं पुकारा गया। जसा अभी मिर्ज़ा ख़ाँ क व्याकरण से साक्ष्य लिया गया, मध्यदश की समूची काव्यभाषा का 'भाखा या हिंदी' कहा गया है, और य दाना नाम परस्पर परिवत्तनीय रह है। काव्यभाषा के रूप म ब्रज-भाषा का सजग भाव स विश्लेषण तो बाद म भिखारीदास न किया है।

प्रबंध क परिशिष्ट म एक *शब्दानुक्रमणी* दी गई है जिसम मध्यकालीन काव्यभाषा म उद्धत शब्द रूपा की अकारादि क्रम स सूची है। यह अनुक्रमणिका विवेच्य सामग्री का व्यावहारिक रूप म परिचय अपन आप दे दती है। मध्य-कालीन काव्यभाषा के सामान्य रूप तथा उसक विस्तार और वविध्य का कुछ अनुमान यहा भी किया जा सकता है।

कमल दल लोचन (सूरदास ३।८७)
सरल सरोरुह नयन (तुलसी अ० ११६)
लोचन कमल विकास (केशव ३।२२)
नैन न कमल उपमा कौं निपरात है (सेनापति २।११)
सायक-सम मायक नयन रँग त्रिविध रँग गात
झखौ विलखि दुरि जात जल लखि जलजात लजात (बिहारी ५५)
नैन से कमल (भिखारीदास ३।८७)

७ नैन खँजन दुइ (जायसी ६१।७)
खंजन नैन सुरँग रस माते (सूरदास ८।१८७)
खंजन मंजु निरीछे नयननि (तुलसी-अ० ११७।७)
मृग खंजन अंजन शाम घना (केशव ११।२९)
अजब चंचलाई है तेरे नयन में।
कि खंजन नमन एक तिल के न ठारे। (मुहम्मद कुली-पृ० १०७)
अंजन मुग गोत खंजन (सेनापति २।१)
खंजनु गंजनु नैन (बिहारी ८६)
दृग खंजन से दास (भिखारीदास) ८।२२)

८ भौंह धनुक (जायसी ३८।८)
भृकुटी बिकट नैन अति चंचल इहिं छवि पर उपमा इक धावत
धनुष देखि खंजन बिबि डरपत उडि न सकत उडिबे अकुलावत।
(सूरदास ३।१४९)
भृकुटि बिलास प्रकाशित देखे। धनुष मनोज मनोमय लेखे (केशवदास-६।४२)
भवाँ तेरयाँ कुँ क्या लिखेगा नक्काश।
कमा दो खीचिया है सख्त अरकाल। (मुहम्मद कुली-पृ० १०६)
भृकुटी धनुषु (बिहारी १०४)
भृकुटी कमान (भिखारीदास ३।४७)

९ चँवर ढरत आछहिं चहुँ पासा। भँवर न उडहिं जो लुबुधे बासा
(जायसी ४७०।७)
लट-लटकनि मनु मत्त मधुप-गन मादक मधुहिं पिए (सूरदास २।१८)
कुटिल केस जनु मधुप समाजा (तुलसी-बा० १४७।५)
कुतल मौर घना (केशव १३।२८)

मुख तरौ ता समान चद (सनापति १।८३)
चदमुखी (विहारी ८२)
वदन ददु (भूषण १९)
चदमखी (मिखारीदास २।४८)
३ कवत्र मुख साहा (जायसी ५५।५)
तुम्हरौ कमल वदन कुम्हिलहै (सूरदाम-३।३)
मानस त मुख पकज जाइ (तुलसी-अ० २९७।७)
कमल मुख सीता जू को (केशव ९।८२)
कँवलि मुख (मुहम्मद कुल्ली-पृ० ९२)
वदन-सरोरह (सनापति १।३२)
मुख-कजु (भूपण ६५)
मिल्यो कमल मुख कमल-वन (भिखारीदास ३।३०)
४ जलहर नन जा पलक करारा। चल्हक मीन चमक मद धारा (जायसी-६००९।३ क्षेपक)
नन मीन (सूरदास ३।१८५)
प्रभुहि चितै पुनि चितव महि राजत लाचन लाल।
खेलत मनमिज मीन जुग जनु बिधुमडल डोल। (तुलसी-बा० २५८)
साची कही अदप्ट, झूठी उपमा मीन का (केशवदास ९।८५)
छिल मुख नीर पूरा म मछया लोचन तरा चचल (मुहम्मद कुल्ली-पृ० ८८)
अजन सुरग जीत खजन, कुरग मीन (सनापति २।१)
सखौ विलखि दुरि जात जल (बिहारी ५५)
मीन हुलास सो कूदि परै प परै (भिखारीदास ८।५८)
५ सारँग नैनी (जायसी-३२।३)
मग मूसी ननननि की सोमा (सूरदास-प ।७)
मृग सावक नयनी (तुलसी-अ० ८।७)
तो सा मृगननी सब (केशव ९।८०)
कुरग नयनी (मुहम्मद कुल्ली-पृ० ९९)
मोहत ही मन मग-ननी (सेनापति १।८१)
हरिनी के ननानु तैं हरि नीके ए नैन (बिहारी ६७)
कुरग दृग (भिखारीदास ५।५०)
६ राते कवत्र करहिं अलि भवाँ (जायसी १०३।२)

नेह खरग धार उपर चलना कठिन है मुनि (मुहम्मद कुल० पृ०
११७)

१५ नाचु रे मन मेरो नट होद (कबीर-प १४)
जब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल (सूरदास १।२३)
नाचत ही निसि दिवस मरयो (तुलसी वि० ९१)

१६ पगुआ मर सुमर उलध त्रिभुवन मुक्ता डाल
गूगा ग्यान विग्यान प्रकास अनहद वाना वा (कबीर-प १५७)
बहिरो सुन गूग पुनि बाल रक चल सिर छत्र धराइ(सूरदास १।१)
मूक होइ बाचाल पगु चढ गिरिवर गहन (तुलसी-बा० १।२)

१७ कउवा कहा कपूर चराए। का बिसहर को दूध पिआए (कबीर-प०
१६८)
जौ नहवाइ मरिज अरगजा। तबहु गयद धूरि नहि तजा (जायसी
४२९।७)
कहा होत पय पान कराए विष नहिं तजत भुजग
कागहिं कहा कपूर चुगाएँ स्वान न्हवाएँ गग। (सूरदास १।४४)
(कबीर-सा १२।४५)

१८ अमा यहु ससार है जमा सबल फूल (कबीर-सा १२।४५)
सबर सइ न चित करु सुवा। पुनि पछितासि अंत होइ सुवा(जायसी
५९४।५)
ज्यौ सुक सेमर सेव आस लगि निसि-बासर हठि चित्त लगायौ
(सूरदास १।६२)
बँधत विनहि पास सेमर-सुमन-आस करत चरत तेइ फल बिनु हीर
(तुलसी वि० १९७)
सुक सेवर को सेइवा अजहूँ तज बिचारि (भिखारीदास ३।२०)

१९ यहु तन जारौ मसि करौ लिखा राम का नाउ।
लेखनि करौ करक की लिखि लिखि राम पठाउ। (कबीर-सा०
२।२१)
यह तन जारौ छार क कहौं कि पवन उडाउ
मकु तेहि मारग होइ परौं कत धर जहँ पाउ। (जायसी ३५२।८)

२० तू तू करता तू भया मुझ म रही न हू। (कबीर-सा० ३।६)
बारी तर नाउ परि जित दखौ तित तू।
हौ हौ कहत मत सब कोइ। जौ तू नाहि आहि सब साई (जायसी
२१६।१)

कुतज क चूल साहत है ओ मुख पर। कि जा फुल पर डुले भँवरा सो नानी। (मुहम्मद कुल्ली-प० ८६)
गन अलि के घरत (सनापति २।७)
मौर तजि क्चन कहत मखतूल (भिखारीदास-६।२)
० कबीर तन मन यो जला विरह अगिनि सा लागि (कबीर-सा २।४२)
विरह कि आगि सूर नहि टिका (जायसा १८०।४)
बिरह-ताप तन अधिक जरावत (सूरदास प१२)
दव लाग विरह दव दाढे (तुल्सी-अ० ८०।१)
बुयाया है बिरह का अग व (मुहम्मद कुल्ली प० ८६)
विरह ताप (सनापति १।६३)
विरह-अगिनि-ल्पटनु सकनु लपटि न मीचु सचानु (बिहारी १२४)
विरह ताप वाको दियो (भिखारीदास ७।२१)
११ वनी नाग (जायसी ५।३)
अहि अनूप ववरी (सूरदास प ७)
चोटी तेरी सो नाग है (मुहम्मद कुल्ली प० ९२)
ब्यालिनि सी बनी (भिखारीदास ३।६७)
१२ गवन गज हर (जायसी ५५।७)
गति ममत नाग ज्यों नागरि (सूरदास ४।२०)
कारन मोहि सुनाउ गजगामिनि निज काप कर (तुलसी-अ० २५)
सुनि चद्रवदनि गजगमनि (केशव ९।२३)
तरी चाल मन्-मस्त त लाजे गज (मुहम्मद कुल्ली प० ९४)
सा गज गमनि है (सनापति २।५८)
गयद-गति लीन लगी (भिखारीदास ४।१६)
१३ हसगामिनी (जायसी ३२।३)
कृष्न कौं सुख दै चली हँसि, हंस-गति कटि छीन (सूरदास ४।८७)
हसगवनि तुम्ह (तुल्सी ६३।५)
नपहसनि नूपुर गोम मरी (केशव ११।२९)
चाल हमी का (मुहम्मद कुल्ली-प० १०६)
चाल चलति मुहाई मानों मयर मराल ह (सनापति २।४०)
१४ जग महँ कठिन खरग क धारा। तहि तें अधिक बिरह क धारा (जायसा १५३।५)
प्रिय चढ़िहहि पतिब्रत असि धारा (तुल्सी-बा० ६७।६)

रात द्यौस जायौ परतु लखि नरइ रातानु (बिहारी ८८६)
वार पर्व छनहिं माहि विङ्रन गीति है (भूषण २२८)

२७ चितवै नाँ चकार रि नाइ (जायसी १७८।७)
पन्नग वद चकार विमुख मन गात अँगार मद (सूरदास ११८६)
मनु तव आनन चंद चकोरू (तुलसी अ २६।८)
गहे तूरि ज्यों चकोर नद्र म मिलै उड़ाय (केशव १।२१)
चाहत चकोर सूर ओर दृग छोर करि (सेनापति ३।११)
मोह ससी भ्रम सूरन्यों रहहि चकोरा चाहि (विहारी ३४२)
लखि भ्रम रहत चकोर चन्द्रिका यह जान्न ह (भिखारीदास ३।१८)

२८ मकराकृत कुडल (सूरदास ३।१८०)
कुडल मकर (तुलसी-बा १८७।५)
श्रवण मकर कुडल लसत (केशव ६।८९)
मकराकृति गोपाल के सोहत कुडल कान (बिहारी १०३)
या मकराकृत कुडल साज (भिखारीदास १०।१९)

२९ छत्र गगन उहि ताकर सूर तवै जसु आपु।
सभा कँवल जिमि विगस माथ वड परतापु। (जायसी ४७।८)
जहाँ सनक सिव हस मीन मुनि नख रवि प्रभा प्रकास
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससि डर गुजत निगम सुवास (सूरदास १।८६)
अवलोकि रघुकुल कमल रवि छबि (तुलसी-बा० ३१९)
निज प्रताप दिनकर करत, लोचन कमल विकास (केशव ३।२२)
कमलकुल सोकहर राजत है दिनराज (भूषण ३)

३० भूल दीपक जस पतग (जायसी १२।८)
प्रीति पतग करी पावक सौ आपै प्रान दह्यौ (सूरदास ५।८७)
वन के लगन शमा चाद लार पतँग के नमन।
उडत ह उस आस पास इश्क ते बेअख्तियार। (मुहम्मद कुली प० १२५)
तजि आसा तन प्रान की, दीपहि मिलत पतग (भिखारीदास ८।७०)

३१ अधर सुरग अमिज रस भरे। बिंब सुरग लाजि बन फरे (जायसी १०६।१)
बलि बलि जाउँ अरुन अधरनि की, विद्रुम बिब लजावन (सूरदास ३।१४८)

२१ कस्तूरी का मिरिग ज्यां, फिरि फिरि ढूं‍ घास (कबीर-सा ७।६)
ज्यौं सौरभ मग-नाभि बसत है, द्रुम-तन सूँघि फिर्‌यौ (सूरदास १।५३)
ज्यों कुरग निज अग रुचिर म‍ अति मतिहीन मरम नहिं पाया।
(तु‍सी वि० २८४)

२२ आवा पौन बिछोउ का पात परा बेकरार।
तरिवर तज जो चूरि कै लाग कहि की डार। (जायसी ३९।१८)
बिछुर्‌यौ पात गिरयौ तरुवर तैं, फिरि न लग उहि ठाही (सूरदास-५।७३)

२३ गहै बीन मकु रनि बिहाई। ससि वाहन तब रहै ओनाइ
पुनि धनि सिंघ उरेहै ल्गाग। ऐसी बिथा रैनि सब जाग (जायसी १६८।५)
दूरि करहि बीना कर धरिबौ।
रथ थाक्यौ मानौ मग मोह नाहिन होइ चद्र कौ ढरिबा (सूरदास-५।१०४)

२४ जस सेवाती सबहि वन चातक जल सीप (जायसी १३९।८)
चातक सदा स्वाति कौ सेवक (सूरदास ६।१४३)
जनु चातकी पाइ जल स्वाती (तुलसी-बा० २६३।६)
स्वाति हेत चातक से हम तरसत है (सेनापति २।१८)
चातिक चित मो चेततो स्वाति बूँद की आस (भिखारीदास-८।५६)

२५ चमकहि दसन बीज की नाइ (जायसी ३२।५)
सूर स्याम बिहसत द्विज देख्यौ, मनो कमल पर बिज्जु जमाइ (सूरदास २।१३)
दामिनि-दुति दसनन दरसि ‍जाइ (तुलसी वि ६२)

२६ चकई बिछुरी रनि की आइ मिल परभाति (कबीर-सा २।८)
चकई चकवा केलि कराही। निसि बिछुरहि औ दिनहि मिलाही
(जायसी ३३।५)
चकई री चलि चरन-सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग (सूरदास १।८६)
चकदहि सरद चद निसि जैस (तुलसी-अ० ८८।२)
जो ना कोक कोकी कौं मिलत ता ली होति राति,
कोक अधबीच ही तै आवत है फिरि कै। (सेनापति ३।२१)

अधर बिंबाधरा (तुलसी वि ५१)
बिंब हैं अधर बिंब (सेनापति २।२५)
आठ-आठ बिंब फल्स हाल हा (भिखारीदास ३।४७)
३२ प्रीति बलि उपना हियें भारी (जायसी-२' ४।१)
(मर) नना विरह की बलि बढ़ (सूरदास २।७८)
मह-ल्वा कुम्हिलानि (विहारी ९८)
३३ भँवर बान चपा नहिं लई (जायसी ३०७।२)
महि पुर रनत भरत बिनु रागा। चचरीक जिमि चपक बागा
(तुलसी-अ ३२४।७)
मनौ अली चपक-ली बसि रसु लनु निसाँक (विहारी १८३)
३४ मानौ माइ धन घन अंतर दामिनि (सूरदास ३।८६)
तहँ सामिज सखि सुदरी जनु दामिनी वपु मण्डि क (केशव ६।६०)
नारी मुख चमकै जस बिजली (मुहम्मद कुली-प० ८८)
चली अटा देखति घटा बिन्नु छटा सी नारि (विहारी २८४)
सगर मैं दामिनी सी (सेनापति १।१५)
बिज्जुछटा तू बाम (भिखारीदास ३।१६)
३५ चमकत बीज म-कर मंडित (सूरदास)
चपला चमक न फिरै खंग मान (केशव १३।१७)
चमकनि चपला न फरत फिरत नट (भूषण ७५)
चपला चमतकारी बरन अनारी थ कटारी नरवारा है (भिखारीदास
१०।२७)
३६ छवि गहँ दीपसिखा जनु बरइ (तुलसी-बा २३०।७)
उज्यारा दिप दह की (सेनापति-१।१९)
अग-अग-नग जगमगत दीपसिखा सी दह (विहारी ९)
३७ जघ जुग सोभा रभा हू कों निदरति ह (सेनापति १।२१)
जघ जुगल राइन निरखत मनौ बिधि मन।
कदलि-मन्ल दुखदल ए करि लरल सुद दल। (विहारी २१०)
कदली-खभ सी जानु सुधार है (भिखारीदास ८।२०)
३८ ग-खजन गहि लै चल्यौ चितवनि चखु लगाद (विहारी १६७)
डाठि -खग फांदिब का रासा सरे आगें प्रिय (भिखारीदास १०।२८)
३९ रितु आई है सरद मुखदाई सब जीय का (सेनापति-३।२७)
मर्में आइ सुदरि-सरद काहि न करति अनद (विहारी ४८७)

मानहुँ सिव की परन-कुटी विच धारा स्याम निनारे।

(सूरदास-५।७५)

प्यारी के नयन जमुवान वरसत तासों भीजत उरोज देखि भाउ मन भाख्यो है।

सेनापति मानो प्रानपति के दरम रस शिव कौ जुगल जल्साई करि राख्यो है।

(सेनापति २।२३)

समु हैं प उपजाव मनोज (भिखारीदास १०।२२)

परिशिष्ट—क

मध्यकालीन राजस्थानी से उद्धृत प्रतिनिधि शब्द रूपों की अनुक्रमणिका

(शब्द रूपों के आगे दिए हुए अंक ग्रन्थ के पृष्ठ तथा पाँचवें अध्याय की संख्या के सूचक हैं)।

मानहुँ सिव की परन-कुटी बिच धारा स्याम निनारे।

(सूरदास ५।७५)

प्यारी के नयन असुवान वरसत तासा भीजत उरोज देखि भाउ मन माख्यौ है।
सेनापति मानो प्रानपति के दरस रस शिव को जुगल जल्साई करि राख्यौ है।

(सेनापति २।२३)

सभु है प उपजाव मनोज (भिखारीदास १०।२२)

•

आलोचनात्मक ग्रन्थ

१ अच्छी हिंदी रामचन्द्र वर्मा, भारतभारती, इलाहाबाद, १९६७
२ इवल्यूशन आफ अवधी बाबूराम सक्सेना, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९३७
३ उर्दू कविता पर बातचीत रघुपतिसहाय 'फिराक', तरुण कार्यालय, इलाहाबाद, १९४५
४ ओरिजिन एंड डेवलेपमेंट आफ द बंगाली लैंग्वेज सुनीतिकुमार चटर्जी, १९२६
५ कबीरकी भाषा माताबदलजायसवाल, प्रकाशन प्रतिष्ठान इलाहाबाद, १९६५
६ कांटीनुइटी ऑफ पोएटिक लैंग्वेज जोसेफीन माइल्स यूनिवर्सिटी आफ कैलिफोर्निया प्रेस, १९५१
७ खड़ी बोली का आंदोलन शितिकंठ मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा १९५६
८ ग्रामर आफ ब्रजभाखा मिर्जा खां (एम० जियाउद्दीन द्वारा संपादित), विश्वभारती शांतिनिकेतन, १९३५
९ ग्रोथ एंड स्ट्रक्चर आफ द इंगलिश लैंग्वेज यस्पसन बेसिल ब्लैकवल, आक्सफर्ड, १९३८
१० चिंतामणि रामचन्द्र शुक्ल, इंडियन प्रेस इलाहाबाद १९५९
११ जायसी ग्रंथावली (सं०) रामचन्द्र शुक्ल नागरीप्रचारिणी सभा, १९२४
१२ डिक्शन आफ पोएट्री फ्राम स्पेंसर टु ब्रिजेज़ बनर्ड ग्रूम, यूनिवर्सिटी आफ टोरंटो प्रेस, १९५५
१३ तुलसीदास की भाषा देवकीनन्दन श्रीवास्तव लखनऊ विश्वविद्यालय १९५७
१४ त्रिवेणी रामचन्द्र शुक्ल नागरी प्रचारिणी सभा १९४७
१५ दक्खिनी हिंदी बाबूराम सक्सेना हिन्दुस्तानी एकेडेमी, १९५२
१६ पुरानी राजस्थानी तस्सीतारी नागरी प्रचारिणी सभा, १९५५
१७ पोएटिक डिक्शन ओवन बारफील्ड फावर एंड फावर, १९५२
१८ पृथ्वीराजरासो की भाषा नामवर सिंह, सरस्वती प्रेस, १९५६
१९ फिलासफ़ी इन ए न्यू की सूज़न के० लैंगर, मेंटर बुक, १९४२
२० बिहारी सतसई का भाषावैज्ञानिक अध्ययन रामकुमारी मिश्र, लोकभारती इलाहाबाद, १९७०
२१ बुद्ध चरित रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, १९३८
२२ ब्रजभाषा धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी १९५४

परिशिष्ट—ख ग्रन्थ सूची

(इस सूची में पुस्तक के प्रथम प्रकाशन अथवा प्रयुक्त संस्करण का उल्लेख है। प्रकाशन वर्ष ईस्वी सन में है।)

आधारभूत पाठ (प्रयुक्त संस्करण)

१ कबीर ग्रन्थावली (स०) पारसनाथ तिवारी हिन्दी परिषद इलाहाबाद १९६१

२ दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा (स०) राहुल सांकृत्यायन बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना १९५९

३ जायसी ग्रन्थावली (स०) माताप्रसाद गुप्त १९५२

४ सूरसागर सार (स०) धीरेन्द्र वर्मा साहित्य भवन इलाहाबाद १९५४

५ रामचरितमानस (स०) माताप्रसाद गुप्त साहित्य कुटीर प्रयाग १९४९

६ विनयपत्रिका (स०) हनुमानप्रसाद पोद्दार गीताप्रेस गोरखपुर १९६०

७ मीराँबाई की पदावली (स०) परशुराम चतुर्वेदी हिन्दी साहित्य सम्मेलन १९५६

८ रहीम (स०) रामनरेश त्रिपाठी हिन्दी मंदिर, प्रयाग १९२१

९ रामचंद्रिका (स०) लाला भगवान दीन रामनारायणलाल इलाहाबाद १९०७

१० अर्द्धकथा (स०) माताप्रसाद गुप्त हिन्दी परिषद् प्रयाग १९४३

११ बिहारी रत्नाकर (स०) जगन्नाथदास रत्नाकर ग्रन्थकार बनारस १९६०

१२ भूषण (स०) विश्वनाथप्रसाद मिश्र वाणी वितान, बनारस १९५३

१३ मतिराम ग्रन्थावली (स०) कृष्णबिहारी मिश्र, गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ, १९३८

१४ कवित्त रत्नाकर (स०) उमाशंकर शुक्ल, हिन्दी परिषद, प्रयाग १९६०

१५ घनआनंद (स०) विश्वनाथप्रसाद मिश्र वाणी वितान, बनारस १९५२

१६ देव के लक्षण-ग्रन्थों का पाठ (स०) लक्ष्मीधर मालवीय (शोध प्रबन्ध)

१७ भिखारीदास (द्वितीय खण्ड) (स०) विश्वनाथप्रसाद मिश्र नागरी प्रचारिणी सभा १९५७

२३ ब्रजभाषा व कृष्णभक्ति-काव्य म अभिव्यजना शिल्प सावित्री सिन्हा नशनल पब्लि० हा०, दिल्ली १९६१
२४ भारत का भाषा-सर्वेक्षण (खड १, भाग १) ग्रियसन (अनु० उदयनारायण तिवारी), सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, १९५९
२५ भारत का भाषा-सर्वेक्षण, भाग ९ ग्रियसन (अनु० निमला सक्सेना सुरेन्द्र वमा), हिन्दी समिति, लखनऊ, १९६७
२६ भारतीय आयभाषा और हिन्दी सुनीतिकुमार चटर्जी राजकमल दिल्ली १९५४
२७ भारतीय साहित्य जनवरी-अप्रल १९५६ क० मु० हिंदी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ आगरा
२८ भारतीय साहित्य का सास्कृतिक रेखाएँ परशुराम चतुर्वेदी साहित्य भवन, इलाहाबाद १९५०
२९. मध्यकालीन बोध का स्वरूप हजारीप्रसाद द्विवेदी, पजाब यूनिवर्सिटी चडीगढ, १९७०
३० मध्यदशीय भाषा हरिहरनिवास द्विवदी विद्यामदिर ग्वालियर १९५५
३१ मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लाकतात्विक अध्ययन सत्येन्द्र, विनाद पुस्तक मदिर, आगरा १९६०
३२ मनकाइड, नेशन एड इनडिविजुअल यसपसन, जाज एलेन एड अनविन १९४६
३३ लिटररी क्रिटिसिज्म ए शॉट हिस्ट्री विम्जट तथा ब्रुक्स ऑक्सफ़ड पब्लिशिंग, कलकत्ता, १९५७
३४ लग्वज एण्ड मिथ अर्नेस्ट कसिरर डावर पब्लिकेशस लदन, १९४६
३५ लग्वज एड साइलेंस जॉर्ज स्टीनर पेंगुइन सस्करण १९६९
३६ लग्वज पोएट्स यूज़ श्रीमती नौवातेनी एथलान प्रेस १९६२
३७ विचारधारा धीरेन्द्र वमा साहित्य भवन इलाहाबाद १९४८
३८ सत कबीर (सक्षिप्त) रामकुमार वमा साहित्य भवन, इलाहाबाद १९५०
३९ साहित्य का इतिहास-दशन नलिनविलाचन शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६०
४० सूर की भाषा प्रमनारायण टडन हिन्दी साहित्य भडार, लखनऊ १९५७
४१ सूरपूव ब्रजभाषा और उसका साहित्य शिवप्रसाद सिंह हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी १९५८
४२ सूरसागर शब्दावली निमला सक्सना हिन्दुस्तानी एकडेमी, १९६२